



अवण
कीर्तन

स्मरण

पाद सेवन

अर्चन

आत्मनिवेदन

सर्व

दास्य

दत्तन

परमहंस शिरोमणि श्रीविष्णुपुरी कृत

भवितरत्नावली



टीकाकार

विद्यावाचिधि दर्शनकेशगी महामण्डलेश्वर सख्यरस उपासक
श्री १०८ स्वामी श्रीकृष्णानन्ददासजी महाराज



संपादक

श्रीरामदास शास्त्री

प्रकाशन संस्थान
भर्तुभारत ग्रन्थमाला
चार संप्रदाय आश्रम
वृन्दावन (उ० प्र०)

*

प्रथम संस्करण १०००
संवत् १६६४
द्वितीय संस्करण १०००
संवत् २०२६

*

फालगुन कृष्णा सप्तमी
गुरुदेव-स्मृति-महोत्सव

*

सर्वाधिकार सुरक्षित

*

मूल्य ~~५०~~ ६/-

*

मुद्रक
प्रीतमलाल गोस्वामी
रत्न प्रेस, वृन्दावन

अनन्त श्रीविभूषित, श्रीमाध्वगोडेश्वर सम्प्रदायाचार्य,
विद्यावारिधि, सख्य रस उपासक, श्री १००८ श्री
स्वामी श्रीकृष्णानन्द दासजी महाराज



प्राप्ति स्थान -
चार सम्प्रदाय आश्रम

गुरु पूर्णिमा
मं २०२२

प्रकाशक :-
श्रीकमला शंकर अष्टाना

समर्पण



अनन्त श्रीविभूषित

कृपानिधि

श्रीगुरुदेव भगवान् ।

तुम्हारो वस्तु तुम्हारे ही

करकमलों में

सस्नेह

भंट



चरणकिङ्कुर
रामदास शास्त्री

भक्तिरत्नावली—

प्रकरण-तालिका



संख्या	नाम	पृज
१.	समर्पण तथा चित्र श्री महाराज जी का	३
२.	प्रकरण-तालिका	६
३.	प्रस्तावना	५
४.	चित्र [ग्रन्थ संपादक श्री शास्त्रीजी]	५
५.	ग्रन्थपरिचय [मूल ग्रन्थकार श्रीविष्णुपुरी द्वारा]	८
६.	भक्त महिमा [प्रथम विरचन]	१०
७.	सत्संग महिमा [द्वितीय विरचन]	१३
८.	नवधाभक्ति [तृतीय विरचन]	१३
९.	श्रवण भक्ति [चतुर्थ विरचन]	१३
१०.	कीर्तन भक्ति [पंचम विरचन]	११३
११.	स्मरण भक्ति [पष्ठम् विरचन]	१३८
१२.	पादसेवन भक्ति [सप्तम विरचन]	१६६
१३.	अर्चन भक्ति [अष्टम विरचन]	१६३
१४.	वन्दन भक्ति [नवम विरचन]	१६३
१५.	दास्य भक्ति [दशम विरचन]	१६६
१६.	सख्य भक्ति [एकादश विरचन]	१७१
१७.	आत्मनिवेदन भक्ति [द्वादश विरचन]	१७३
१८.	भगवत गरणागति [त्रयोदश विरचन]	१७४
१९.	श्री बोपदेवाचार्य कृत [पट्टपदी]	१८०

प्रस्तुतावना

आज से लगभग बत्तीस वर्ष पहले प्रस्तुत ग्रन्थ 'भक्ति-रत्नावली' के प्रथम संस्करण का प्रकाशन हुआ था, उस समय वृन्दावन में श्री माधव-गौड़ीश्वर सम्प्रदायाचार्य, अनन्त श्री विभूषित विद्यावारिधि, दर्शन केसरी गुरुदेव श्रीस्वामीकृष्णानन्ददासजी महाराज विराज रहे थे, और भक्ति-रत्नावली की-जो उस समय तक बंगला लिपि में ही प्रकाशित थी—कथा किया करते थे। एक दिन भी थोताओं ने श्री महाराजजी से प्रार्थना की, महाराजजी! यह ग्रन्थ तो हिन्दी में प्रकाशित होना चाहिये। यह सुनते ही महाराजश्री ने उसका हिन्दी अनुवाद करना स्वीकार कर लिया, और अथक परिश्रम के अभ्यासी श्री गुरुदेव ने १५ दिन के अन्दर उसकी पाण्डुलिपि तैयार करा दी। वृन्दावन में उम समय श्री इन्द्रजी ब्रह्मचारी 'विष्णु-ग्रन्थमाला' के माध्यम से धार्मिक ग्रन्थों के प्रकाशन का कार्य कर रहे, थे उनकी प्रेरणा से 'भक्ति-रत्नावली' शीघ्र प्रकाशित होकर भक्तों के हाथ में पहुँचा दी गई। उन बातों को आज बहुत लम्बा समय बीत गया, ग्रन्थ की प्रतियाँ भी समाप्त हो गई, दर्शन को भी कहीं नहीं मिलती थीं, तभी से इसके पुनः प्रकाशन की माँग बराबर होती रही, परन्तु समय और परिस्थिति बाधक बनते चले गये। बीच में 'भक्ति-भारत' मासिक पत्र और 'भक्ति-भारत ग्रन्थमाला' का प्रकाशन भी ढीला पड़ गया था। सौभाग्य से वह दिन फिर उपस्थित हुआ है, जबकि हम "भक्ति-रत्नावली" को हिन्दी टीका सहित प्रेमियों के हाथ में सौंप रहे हैं।

प्रस्तुत पुस्तक परमहंस शिरोमणि श्री विष्णुपुरी जी द्वारा श्रीमद् भागवत से नवधा भक्ति विषयक श्लोकों का संकलन है, श्री स्वामी कृष्णानन्ददास जी महाराज ने हिन्दी भाषा-भाषी भावुक भक्तों की मुविधा के लिये इसका हिन्दी अनुवाद करके बड़ी दया की है।

परमहंस शिरोमणि श्री विष्णुपुरीजी के सम्बन्ध में—भक्तमाल, भक्ति-रत्नाकर, तत्त्वसंदर्भ और 'गौड़ीय वैष्णव अभिधान' नामक ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है। इनका जन्म मिथिला तिरहूत (विहार प्रान्त के जिला दरभञ्जा तहसील मधुबनी) के ग्राम तरौनी में हुआ बताया जाता है, इनकी जन्म

तिथि का तो ठीक-ठीक पता नहीं चलता, पर यह कहा जाता है कि इनका प्राकट्य श्री चैतन्य महाप्रभु से १५० वर्ष पूर्व हुआ है, ये श्री माधव गौडेश्वर सम्प्रदाय की परम्परा में श्री मन्महाप्रभु से १५० वर्ष पूर्व सातवीं पीढ़ी में श्री जयधर्मजी के शिष्य हुए थे। 'भक्ति-रत्नावली' की रचना के सम्बन्ध में श्री विष्णुपुरीजी ने ग्रन्थ के अन्त में स्वयं एक श्लोक में शकाब्द १५५५ का उल्लेख किया है।

श्री विष्णुपुरीजी का गृहस्थ का नाम विष्णु शर्मा था, ब्राह्मण वंश में उत्पन्न विष्णुशर्मा के पूर्वज 'कर्महा' ब्राह्मण कहलाते थे। अपने समय के ये उद्भट विद्वान माने जाते थे, वेदज्ञ और कर्मकाण्ड की कुशलता से ये ख्याति प्राप्त कर चुके थे, विवाह के पश्चात् इन्हें सन्तान रूप में पुत्र प्राप्ति हुई थी, किन्तु इनकी गृहिणी अनुकूल स्वभाव की नहीं थी, वह इनके पांडित्य और कर्मकाण्ड सम्बन्धी ज्ञान को महत्व नहीं देती, फलतः घर में क्लेश होता रहता, और मन में अशान्ति बनी रहती थी। एक दिन पत्नी के कठोर व्यवहार से दुखी होकर गृह त्याग कर विन्दु सरोवर पर शिलानाथ शिव की आराधना करने लगे, यह स्थान जनकपुर से ८ मील पर है, इस स्थान की विशेष महत्ता है, यह तपोभूमि सिद्धस्थली मानी जाती है, इनके ग्राम-वासियों ने इनको पुनः घर में आने के लिये अनेक प्रकार से समझाया, स्वयं श्री भी इनसे क्षमा मांगने गई—पर इन्होंने घर लौटना स्वीकार नहीं किया, एक वर्ष तक ये कठोर व्रत धारण कर शिव की आराधना में लगे रहे। एक वर्ष के पश्चात् इन्हें शिवजी ने प्रत्यक्ष दर्शन देकर विष्णु मन्त्र के जप की आज्ञा दी और घर में लौट जाने को कहा। भगवान श्री शिव की आज्ञा पाकर ये घर तो लौट आये, परन्तु ग्राम से बाहर एक वृक्ष के नीचे कुटी बनाकर तपस्या करने लगे, सहधर्मिणी भी अनुकूल रहकर सेवा करने लगी, अनेक वर्ष तक अनासक्त भाव से गृहस्थ धर्म का पालन करने के पश्चात् इन्होंने अपनी गृहिणी के साथ जगन्नाथ धाम की यात्रा की, वहाँ से ये पुनः वापस लौटकर नहीं आये। आज भी तरीनी गाँव में उस वृक्ष की पूजा होती है, बच्चों के विद्याध्ययन संस्कार की दीक्षा ग्रामवासी उसी वृक्ष के नीचे कराते हैं।

अपने घर से निकल कर श्री विष्णुपुरीजी ने कुछ समय तक श्री जगन्नाथपुरी में श्रीमाध्वगौडीय वैष्णवों की संगति में श्रीमद् भागवत् का आलोड़न किया, श्रीमद् भागवत् में इनकी इतनी निष्ठा हो चुकी थी कि अहर्निश इनके मुख से श्री मद्भागवत् के श्लोक निकलते रहते थे, वहीं पर

इन्होंने श्रीमद् भागवत से नवधार्भक्ति के श्रोकों का चयन कर उसे 'भक्ति-रत्नावली' नाम दिया था, विष्णुपुरीजी स्वयं नित्य-प्रति इस भक्ति-रत्नावली का जगन्नाथजी के मन्दिर में पाठ करते थे।

यह कहा जाता है कि पुरी में निवास करते समय में ही इन्होंने श्री माधवगौडेश्वर सम्प्रदायाचार्य श्री जयधर्मजी से वैष्णवी दीक्षा ग्रहण की थी, कोई-कोई इन्हें श्री चैतन्य महाप्रभु के बाबा गुरु श्रीमाधवेन्द्रपुरी का शिष्य मानते हैं, परन्तु यह बात संगति में नहीं बैठती, क्योंकि इनका समय श्री महाप्रभु से १५० वर्ष पूर्व माना जाता है, अतः श्री जयधर्मजी जो महाप्रभु से पूर्व परम्परा में सातवीं पीढ़ी में हुए हैं—का शिष्य होना ही संगत है।

परमहंस श्री विष्णुपुरीजी सहधर्मिणी का साथ छोड़कर काशी में आकर श्रीविश्वनाथजी की सन्निधि में रहने लगे थे, अनेक विद्वानों का मत है कि—“भक्ति-रत्नावली” की रचना काशी में न होकर पुरी में ही हुई थी, परन्तु ‘भक्ति-रत्नावली’ के अन्तिम श्रोकों में जो स्वयं श्रीविष्णुपुरी के ही रचित माने जाते हैं, लिखा है कि—

वाराणस्यां महेशस्य सान्निध्ये हरिमन्दिरे ।

भक्तिरत्नावली सिद्धा संहिताकान्तिमालया ॥

महायज्ञ शरप्राण शशांक गुणिते शके ।

फालगुने शुक्ल पक्षस्य द्वितीयायां सुमङ्गले ॥

इससे यह सिद्ध है कि जगन्नाथपुरी के निवास समय में भले ही श्री विष्णुपुरीजी ने श्रीमद् भागवत का गहन अध्ययन किया होगा और यत्र-तत्र से भक्ति सम्बन्धी श्रोक संगृहीत किये होंगे, परन्तु उन्हें सुसज्जित कान्ति माला व्याख्या का रूप श्रीशिवधाम काशी में ही प्राप्त हुआ है, विष्णुपुरीजी ने स्वयं एक श्रोक में 'भक्ति-रत्नावली' की कान्ति-माला नामक व्याख्या का उल्लेख किया है, जिसकी रचना काशी में हुई है—

इत्येषा बहु यत्नतः खलु कृता श्रीभक्तिरत्नावली,

तत्प्रीत्यैव तथैवसंप्रकटिता तत्कान्तिमालामया ।

अत्र श्रीधर सत्तमोक्ति लिखने न्यूनाधिकं यत्त्वभूत्,

तत्कन्तु सुधयोऽहंति सुरचनालुब्धस्य मे चापलम् ॥

इस भक्ति-रत्नावली-कान्तिमाला को तैयार कर उन्होंने अवश्य ही काशी में बैठकर प्रभु जगदीश्वर के चरणों में अपित किया होगा। ऐसा कहा जाता है कि एक दिन श्री जगन्नाथदेव ने स्वप्न में अपने पुजारियों से कहा

कि काशी में विष्णुपुरी ने जो “कान्तिमाला” तैयार की है, उसे लाओ, मैं पहनूँगा। तब राजा के सहयोग से एक अधिकारी को पत्र लेकर काशी भेजा गया और विष्णुपुरीजी के रचित ग्रन्थ ‘भक्ति-रत्नावली’ को लाकर श्रीजगन्नाथदेव के चरणों में समर्पण किया गया। यह बात प्रसिद्ध है—कि उस लिखित ‘भक्ति-रत्नावली’ के एक-एक श्लोक को गोली बनाकर माला के रूप में पिरोया गया, वह माला अभी तक विशेष उत्सवों पर श्रीजगन्नाथ देव के गले में पहनाई जाती है।

‘भक्ति-रत्नावली’ के सभी श्लोक श्रीमद्भागवत के हैं, परन्तु प्रारम्भ के श्लोक १, और ६ से ६ तथा उपसंहार के ६ श्लोक श्रीविष्णुपुरीजी की स्वयं की रचना है। ‘भक्ति-रत्नावली’ तेरह विरचनों में पूर्ण हुई है, इनमें तृतीय विरचन का श्लोक ३२ और पञ्चम विरचन का श्लोक ४५ हरिभक्ति मुधोदय से लिये गये हैं। अन्यान्य पुराणों से भी कुछ श्लोक लिये गये हैं। प्रथम विरचन का ८१ और १०५ वाँ श्लोक, चतुर्थ विरचन का २६, पञ्चम का ५० वाँ श्लोक भी अन्यत्र से गृहीत हुआ है।

प्रथम चिरचन में मङ्गलाचरण के अतिरिक्त ग्रन्थ प्रयोजन आदि का निर्देश है तथा भक्ति के सामान्य लक्षणों का वर्णन है। द्वितीय में सत्संग महिमा और तृतीय में नवविधा भक्ति है, चतुर्थ से बारह तक, श्रवणादि आत्मनिवेदन पर्यन्त नवविधा भक्ति का पृथक्-पृथक् सञ्चिवेश है। त्रयोदश में शरणागति और ग्रन्थकर्ता का निवेदन है। इस प्रकार ४०६ कुल श्लोक ग्रन्थ में ग्रथित हैं। किसी-किसी संस्करण में १-२ श्लोक न्यूनाधिक भी है।

भक्ति-रत्नावली के श्लोकों की हिन्दी व्याख्या श्री महाराजजी ने की है, यह हम बता चुके हैं, श्री महाराजजी का जन्म पंजाब का था, इसलिये हिन्दी में कहीं-कहीं उदू शब्दों का मिश्रण हो गया है, और कई स्थानों पर हिन्दी की परिपाटी के अनुसार संदर्भ भी नहीं मिल पाया है। हमने उसे एक महापुरुष की लेखनी और वाणी का प्रसाद समझकर ज्यों का त्यों रहने दिया है, क्योंकि यह वस्तु उनकी है, हमारे पास तो धरोहर के रूप में थी। अतः पाठकों को भाषा पर दृष्टि नहीं डालनी चाहिये।

रही बात प्रेस की त्रुटियों की, सो तो होना स्वाभाविक है, कागज और छपाई सफाई भी बहुत बढ़िया नहीं हो पाई है, अगले संस्करणों में हम इसका सुधार करने की चेष्टा करेंगे।

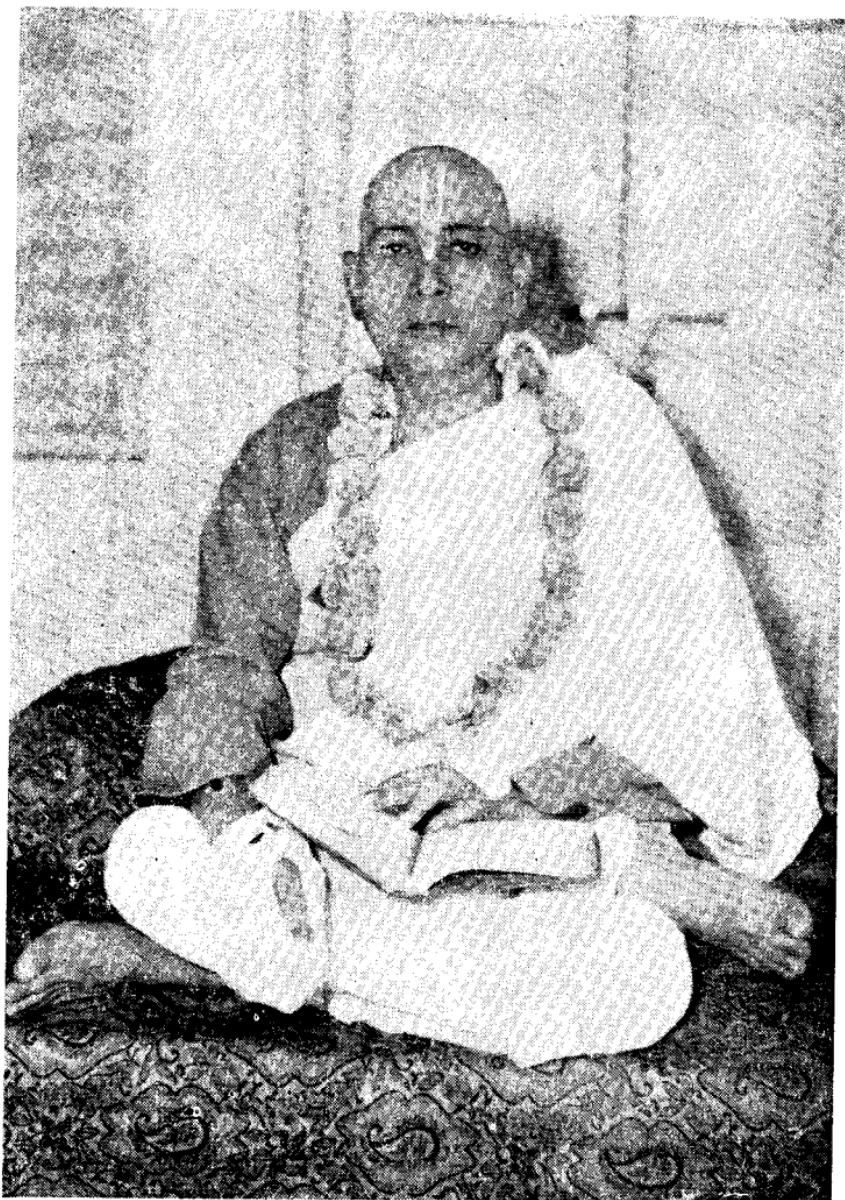
चार सम्प्रदाय आश्रम, वृन्दावन

गुरुदेवस्मृति महोत्सव
फालगुन कृष्णा सप्तमी, दि० २८-२-७०

विनीत

रामदास शास्त्री
सम्पादक

श्रीभक्ति-रत्नावली.....



श्रीरामदास शास्त्री

ग्रन्थकार श्रीविष्णुपुरोजी द्वारा ग्रन्थ-पारिचय



जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो यदुवरपरिवर्त्स्वदैर्भिरस्यब्रह्मम् ।
स्थिरचरवृजिनन्धः सुस्मितश्रीमुखेन व्रजपुरवनितानां वर्द्धयन् कामदेवम् ॥१॥

जो समस्त जीव-वर्ग के वासस्थान हैं, अथवा सर्व प्राणियों में जो निवास करते हैं, अथवा 'जनेषु-परमभक्तेषुनिवासः-यस्य' अर्थात् परम प्रिय भक्तों में अपने साक्षात् श्रीविग्रह से जो निवास करते हैं और यदुकुल में श्रेष्ठजन श्रीनन्दबाबा तथा वसुदेवादिक जिनके सभ्य स्वरूप हैं, स्थावर जङ्गम जीवों के कल्मणों को जो नष्ट करते हैं, श्रीदेवकी में जिनका जन्म (प्रकट) होना प्रसिद्ध है, अपनी वाहुओं से अधर्म (असुरादिक) को नष्ट करने वाले अथवा भुजस्वरूप अर्जुनादिक के द्वारा किये गये दुष्टों के वध से, अधर्म का नाश करने वाले, सुमनोहर मुसक्यानयुक्त श्रीमुखारविन्द से व्रज और द्वारिकापुरी की वनिताओं के अप्राकृत सेवाभिलाष की वृद्धि करने वाले, श्रीकृष्णचन्द्र जय-युक्त हों, अर्थात् सर्वदा सर्वस्तुत्य श्रीकृष्ण को हम नमस्कार करते हैं ।

यत्कीर्त्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं, यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम् ।
लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मणं, तस्मै सुभद्र श्रवसे नमो नमः ॥२॥

जिनके नाम, रूप, गुण, लीलाओं का वाणी द्वारा कीर्तन, स्मरण, दर्शन, श्रवण, नमस्कार और पूजन जीव मात्र के पापों को समूल ध्वन्य कर देता है, उन सुयशशानी श्रीभगवान् को बारम्बार नमस्कार है ।

"तिरुः त्राकृतं सत्त्रुः, अविलनश्राकृतं सत्त्रुः अनुसृत्यः ब्रह्मतन्दः प्रेमतन्दश्च" —

भूयो नमःसद्वजिनच्छिदेऽसता मतस्भवायाखिल सत्वमूर्तये ।
पुंसां पुनः पारमहंस्य आश्रमे व्यवस्थितानामनुमृग्यदाशुषे ॥३॥

जो भगवान् भक्तों के पापों (दुःखों) को नष्ट करते हैं, और अभक्तों (दुष्टों) का नाश करते हैं, उनके लिए बार-बार नमस्कार है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि अन्य देवताओं को छोड़ कर केवल भगवान् को ही नमस्कार क्यों किया जाय ? क्योंकि भगवान् सर्व जीवों के अन्तरात्मा है, नमस्कार आत्मा को ही किया जाता है, अतः अन्य किसी देव को किया गया नमस्कार भी भगवान् के लिए ही होता है। अतएव यहाँ भगवान् को ही साक्षात् नमस्कार करना युक्तिसङ्घृत है। 'सर्वदेव नमस्कारः केशवं प्रति गच्छति' सब देवों को किया गया नमस्कार केशव भगवान् को ही मिलता है। जीव केवल एक ही शरीर का आत्मा है, भगवान् समस्त शरीरों के अन्तर्यामी होने से सभी जीवों के आत्मा हैं। परमहंस आश्रम में विचरण करने वाले महात्मा लोग जिस आत्मस्वरूप की खोज करते हैं, उनके लिए बारम्बार नमस्कार है।

श्रियः पतिर्यज्ञपतिः प्रजापतिर्धियां पतिर्लोकं पतिर्धरापतिः ।
पतिर्गतिश्चान्धकवृष्णिसात्वतां प्रसीदतां मे भगवान् सतां पतिः ॥४॥

लक्ष्मी के पति (ईश्वर), यज्ञों के पति (फलदाता) प्रजापति, समस्त ब्रह्मा पर्यन्त तक की वृद्धि के स्वामी तथा सर्व लोकों के, पृथ्वी के, अन्धक वृष्णि आदि यदुवंशियों के पति (पालक) और गति-आश्रय दाता एवं समस्त आपत्तियों से छुड़ाने वाले, सङ्दर्भकों के संरक्षक, वे भगवान् मेरे ऊपर प्रसन्न होवें।

यः स्वानुभावमखिलश्रुतिसारमेकमध्यात्मदीपं मति तितीर्षतां तमोन्धम् ।
संसारिणां करुणयाह पुराणगुह्यं तं व्यासमूनुमुपयामि गुरुं मुनीनाम् ॥५॥

जिन श्रीयुक्तदेवजी ने अत्यन्त करुणा से, अति निविड़ अज्ञान रूप अन्धकार के पार जाने की इच्छा वाले (संसार से मुक्त होने की चाहना वाले) संसारी जीवों के लिए अध्यात्म स्वरूप श्रीमद्भागवत का गायन किया, सर्व मुनियों के उपदेष्टा (गुरु स्वरूप) उन श्रीव्यासनन्दन के चरणों का आश्रय ग्रहण करता हूँ। श्रीमद्भागवत का जो महत्त्व है, वह अन्य किसी शास्त्र का नहीं, क्योंकि यह जीव को भगवान् के चरण-कमलों को शीघ्रा-

तिशीघ्र भक्त बना देता है। इसीलिए यह सब श्रुतियों का सार (नवनीत) है, अतएव सम्पूर्ण शास्त्रों में मुख्य है, पुराणों में गुप्त रखने योग्य है, आध्यात्मिक पदार्थों (जीव एवं भगवदादि अमायिक वस्तुओं के स्वरूपों) को दीप की भाँति प्रकाशित करता है।

द्वारान्निशम्य महिमानमुपेत्य पाश्वरमन्तः प्रविश्य शुभभागवतामृताब्धेः ।

पश्यामि कृष्णकरुणाञ्जननिमंलेन हृषीचनेन भगवद्भूजनं हि रत्नम् ॥६॥

जीव स्वभावतः सुख चाहता है— वह विषय सुख हों, अथवा मोक्ष सुख, और उनकी प्राप्ति के लिए अनेकों प्रयत्न भी करता है, किन्तु उनकी प्राप्ति का सर्वोत्तम उपाय भगवद्भूक्ति ही है, यह विमुक्तों द्वारा स्तुत्य होने से परमोत्तमा तथा आनन्दस्वरूपा है, यही श्रीमद्भागवत का तात्पर्य है—

कृष्णाण स्वरूप अमृत-सागर श्रीमद्भागवत की महत्ता जब मैंने रत्निक त्रिद्वानों के मुख से श्रवण की, और उस सागर में प्रवेश कर एक दुवकी लगाई (अर्थात् श्रीमद्भागवत के गम्भीर अभिप्राय को समझा) और श्रीकृष्ण के करुणामय स्वरूप अञ्जन के द्वारा, निर्मल-हृदय के अनुभव-स्वरूप-नेत्रों से देखा, तो भगवान् की भक्ति ही उस अमृत-सागर में रत्न-स्वरूप हृषिगोचर हुई अर्थात् श्रीमद्भागवत-अमृत-सागर में, भक्ति ही रत्न है।

तदिदमतिमहार्घं भक्तिरत्नं मुरारेरहमधिकसयत्नः प्रीतये वैष्णवानाम् ।

हृदिगत जगदीशादेशमासाद्यमाद्यन्निधिवरभिवतस्माद्वारिधेरुद्धरामि ॥७॥

जिस तरह समुद्र में गोता लगाने वाले गोताखोर, रत्न को पाकर हर्षित होते हैं और सबके सामने वाहर निकाल कर रख देते हैं, इसी तरह हृदय स्थित श्रीजगदीश की आज्ञा को प्राप्त कर मैं भी श्रीमुगारि श्रीकृष्ण के भक्तिस्वरूप अमूल्य रत्नों को बड़े प्रयत्न से उस अमृत-सागर श्रीमद्भागवत से निकाल कर भक्ति रस रसिक वैष्णवों के सामने प्रस्तुत कर रहा हूँ।

कण्ठे कृता कुलमशेषमलंकरोति वेशमस्थिता निखिलमेव तमो निहन्ति ।

तामुज्ज्वलां गुणवतीं जगदीश भक्ति रत्नावलीं सुकृतिः नः परिशीलयन्तु ॥८॥

जगदीश्वर श्रीकृष्ण की भक्तिस्वरूपा रत्नों की इस माला का सुकृतिजन अभ्यास करें, क्योंकि रत्नों की माला सुकृतियों के ही यहाँ रहती है—

“भक्ति-रत्नावलि” के कण्ठ में धारण करने से यह सम्पूर्ण कुल को भूषित कर देती है। ‘सकुलं पुनातीति’—वह भक्त अपने समस्त कुल को पवित्र कर लेता है। (आज भी सेन भक्त तथा रैदास भक्त के नाम से नापित और चर्मकार विभूषित हैं, पुकारे जाते हैं) और यदि हृदय-गृह में इस रत्नावलि को धारण किया जाय तो यह मणिमाला जीव के हृदय में व्याप्त सम्पूर्ण अन्धकार को नष्ट करती है। यह माला कुल को उद्ध शिखर पर पहुँचाती है तथा गृह के अन्धकार को नष्ट करती है, क्योंकि यह रत्नावलि मायिक पदार्थ नहीं है, यह तो उज्ज्वल दिव्यमणि है। इसका स्वरूप दीप्तिमान् शुभ्रचन्द्रज्योत्सना के सदृश निर्मल और समुज्ज्वल है, यह ‘रत्नावलि’ भगवान् के चरणों में प्रेम-योग का दान करती है तथा जड़ीय-जगत् से वैराग्य कराती है। हृदय में ज्ञानादि गुणों का समावेश करती है अतएव प्रशस्त गुण वाली है। (रत्नों की माला भी गुण वाली ही होती है) क्योंकि गुण नाम धारे का है।

निखिल भागवत श्रवणालसावहुकथाभिरथानवकाशिनः ।
अयमयं ननु ताननु सार्थको भवतु विष्णुपुरी ग्रन्थन ग्रहः ॥६॥

जो लोग सम्पूर्ण भागवत के श्रवण करने में आलस्य करते हैं, अथवा जो आलसी तो नहीं हैं, किन्तु कुटुम्ब के भरण-पोषण से और तद्विषयक कथाओं के श्रवण करने से जिनको अवकाश ही नहीं मिलता, उन जीवों के कथंचित् उद्धार के लिए यह मेरा (विष्णुपुरी का) ‘भक्ति-रत्नावलि’ रचना करने का परिश्रम सफल हो, वस यही कामना है।



* जयगौर हृरिः *

कलि पावनावतार श्री चैतन्य महाप्रभु चरणाश्रित श्री पाद
स्वामी विष्णुपुरी जी द्वारा श्रीमद् भागवत से संकलित

श्री भक्ति-रत्नावली भक्ति-महिमा

प्रथम सूतजी के वाक्य में परम धर्म-भक्ति की महिमा—

स वै पुंसां परोधर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

अहैतुक्य प्रतिहता ययात्मा संप्रसीदति ॥१॥ (१-२-६)

जिस भगवद्भक्ति से आत्मा, सम्यक् प्रकार से पवित्र हो जाती है वह निरहैतुकी फल की इच्छा से रहित तथा विघ्नों द्वारा नष्ट न होने वाली प्रगाढ़ प्रेम-भक्ति, श्रीकृष्ण-चरण में, जिस धर्म से होती है, वही जीवों का सर्व-धर्मों में श्रेष्ठ धर्म है । साधन-नवधा-भक्ति से प्रेम-भक्ति प्रकट होती है, अतः साधन भक्ति ही परम धर्म है, 'भक्त्या संजातया भक्त्या विभ्रत्युत्पुल-कां तनुम्' साधन भक्ति से उत्पन्न प्रेम स्वरूपा-भक्ति शरीर को रोमाञ्चित करती है, इसलिये प्रेम-भक्ति का कारण भूत साधन-भक्ति प्रमाणसङ्गत है । जिस भाँति राज-भक्ति, प्रजा मात्र का आवश्यक धर्म है, उसी प्रकार जगदीश्वर की भक्ति करना जीव मात्र का परम धर्म है ।

भगवान् में प्रयुक्त भक्तियोग का फल—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः ।

जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यत्तदहैतुकम् ॥२॥ (१-२-७)

वासुदेव भगवान् में प्रयोजित भक्ति-योग शीघ्र ही भगवद्-स्वरूप के वैदिक ज्ञान को, जिसमें कि शुष्क तर्कवाद की पहुँच नहीं है, तथा भगवान के अतिरिक्त अन्य पदार्थों से वैराग्य को जीव के हृदय में उत्पन्न कर देता है ।

सत्योपविष्ट भगवान् दिष्णु की उपासना से ही कल्याण की प्राप्ति होती है—

सत्वं रजस्तम् इति प्रकृतेर्गुणास्तै—
 युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते ।
 स्थित्यादये हरि विरच्चि हरेति संज्ञाः—
 श्रेयांसि सत्र खलु सत्वं तनोर्नृणां स्युः ॥३॥

(१-२-२३)

ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देवों को छोड़कर केवल वासुदेव का ही भजन क्यों करना चाहिये ? इसलिये कहते हैं कि-सत, रज, तम ये प्रकृति के गुण हैं, यद्यपि इन तीनों गुणों से युक्त होकर एक ही परम पुरुष भगवान् इस जगत् की स्थिति, उत्पत्ति तथा लय करने के लिए हरि विरच्चि और हर-इन नामों को धारण करता है, परन्तु जीवों को कल्याण की प्राप्ति तो सत्त्वगुण के विस्तारक विष्णु भगवान् से ही होती है ।

अतः विद्वानों का यह अभिपेत है--

अतो वं कवयो नित्यं भक्तिं परमया मुदा ।

वासुदेवे भगवति कुर्वन्त्यात्मप्रसादिनीम् ॥४॥ (१-२-६)

सर्वज्ञ लोग यह समझ कर कि वासुदेव भगवान् से ही कल्याण की प्राप्ति है, प्रतिक्षण मन को पवित्र करने वाली वासुदेव भगवान् की ही भक्ति का परमानन्द से प्रतिदिन आचरण करते हैं । यही सत्पुरुषों का आचार है ।

घोर रूप वाले भूत प्रेत आदिक मोक्ष नहीं दे सकते-

मुमुक्षवो घोररूपान् हित्वा भूतपतीनथ ।

नारायण कलाः शान्ता भजन्ति ह्यनसूयवः ॥५॥ (१-२-२६)

पितर, भूत, लोकपाल आदिक श्राद्ध वलि, पूजादि के न करने पर सेवक के अनिष्टकारी होते हैं, इसलिये घोर रूप भयदायक तथा अत्यन्त परिश्रम करने पर भी अल्पफल के दाता होते हैं, अतः संसार-बन्धन से मोक्ष चाहने वाले प्राणी उन भूतादिकों को छोड़कर तथा अन्य देवों की निन्दा न करते हुए, परमानन्दमय श्रीहरि के अवतार श्रीरामकृष्णादिकों को भजते हैं । श्लोक में आये मोक्ष शब्द से भक्ति-रस-रसिकों का भी ग्रहण होता है ।

निम्न वाक्य में भक्तिरोग से ही सर्व की प्राप्ति बराई गई है-

अकामः सर्वकामो वा मोक्ष काम उदारधीः ।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत् पुरुषं परम् ॥६॥ (२-३-१०)

अकाम और काम का तात्पर्य यह है-

“भजनीय परम पुरुष सुखमात्र स्व सुखः—अकामः, स्वस्य दुःख शमनेच्छा सुख प्राप्तीच्छा च काम उच्यते” ।

वासुदेव भगवान् की भक्ति से ही कल्याण होता है, यह निश्चित सिद्धान्त है, जो जीव भक्ति की कामना करता है, अथवा सभी सांसारिक पदार्थों की चाहना करता है, अथवा जो मोक्ष का भी इच्छुक है, वह उदार बुद्धि वाला पुरुष प्रबल भक्तियोग के द्वारा परम पुरुष की अर्चना करे, सुन्दर बुद्धि का नाम ही उदारधी है, और जो निष्कामता या सकामता से भक्ति की जाती है, यही सुबुद्धि का द्योतक है ।

वासुदेवं परावेदा वासुदेवं परामत्त्वाः ।

वासुदेवं परायोगा वासुदेवं पराः क्रियाः ॥७॥

वासुदेवं परं ज्ञानं वासुदेवं परं तपः ।

वासुदेवं परो धर्मो वासुदेवं परागतिः ॥८॥

(१-२-२८१२३)

श्रेय-प्राप्ति के जितने मार्ग हैं, वे वासुदेव की प्रसन्नता के लिये ही हैं, यज्ञ वासुदेव भगवान् की प्रसन्नता के लिये होता है, इसलिए यज्ञ-विधान करने वाले वेदों का भी भगवान् की भक्ति में तात्पर्य है, क्योंकि ‘वेदैश्च सर्वैरहमेववेद्यः’ सर्व वेदों से मैं ही जाना जाता हूँ आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, समाधि आदिक योगशास्त्र की क्रियाओं का भी यही उद्देश्य है कि भगवत्-विरह का साक्षात्कार हो, अतः योगशास्त्र भी भगवद्भक्ति के आश्रित है, ज्ञान प्राप्ति का अर्थ भी भगवान् का दर्शन करना है, इसलिये ज्ञान शास्त्र भी भगवान् की भक्ति को कहता है, अर्थात् भगवान् ही सर्वोत्तम प्राप्य वस्तु हैं। अतः तप, यज्ञ, दान, व्रतादिकों के प्रतिपादक निगमागम सभी भगवद्भक्ति से सम्बन्ध रखते हैं, यदि कृतकर्मों का कोई फल दाता नहीं हो तो धर्मचिरण भी कैसे बन सकता है, इसलिए धर्मचिरण का मूल भगवद्भक्ति है, जिससे भगवान् की प्रसन्नता होती है, इसलिए धर्मशास्त्र भी भक्ति के ही हैं, ‘भगवान् है’—ऐसा जानकर ही

जीव सर्वसाधनों में प्रवृत्त होता है, अतः साधन-विधान करने वाले शास्त्रों का तात्पर्य भगवदभक्ति-में ही है।

नारद जी के वाक्य से वह निष्कर्ष निकलता है कि यम नियमादि के द्वारा भी चित्त को शान्ति नहीं मिलती—

यमादिभिर्योगपथेः कामलोभृतो मुहुः ।

मुकुन्दसेवया यद्वत्थाऽस्त्माऽद्वा न शाम्यति ॥६॥ (१-६-३६)

यम, नियमादि योग-मार्गों में, काम, लोभादि द्वारा प्रताङ्गित मन इस तरह शान्त नहीं होता, जिस तरह मुकुन्द भगवान् की चरण सेवा से शान्त होता है, यद्यपि योगादिक चित्त के शोधक हैं, तथापि भक्ति के आश्रय बिना चित्त में विशुद्धता के उत्पादक नहीं हैं, अर्थात् यमादि, मन को शान्त करने में स्वयं समर्थ नहीं हैं।

भगवान् और भगवान् की माया को भक्तियोग से ही देखा जा सकता है—

भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले ।

अपश्यत्पुरुषं पूर्वं मायां च तदुपाश्रयाम् ॥१०॥ (१-७-४)

‘भक्ति योगेन सम्यक् कमले’ भक्ति-योग से परम विशुद्ध और प्रणिहित निश्चल मन पूर्ण पुरुष भगवान् के दर्शन करता है, श्रीवेदव्यासजी ने चित्त के समाधित होने पर भगवान् को भी देखा, और उसके भीतर माया को भी देखा। वेदव्यासजी सर्वज्ञ हैं, जिन साधनों से मन पवित्र होता है, उनको वे जानते हैं, उन्होंने मन को भक्ति में इसीलिए लगाया कि भक्ति के सदृश मन तथा चित्त को पवित्र करने वाला अन्य कोई साधन नहीं है, इसीलिये भक्ति के बाद समाधिस्थ होने पर भगवान् तथा उनके गर्भ-स्थित माया का भी दर्शन किया, ‘अनर्थोऽपशमं साक्षात् भक्तियोगमधोक्षजे’ माया जीव के हृदय में अनर्थों (दुर्गुणों) को उत्पन्न करती है, उनका नाश प्रत्यक्ष रूप से भक्ति ही कर सकती है। इसी भक्ति के महत्व को जानकर श्रीवेदव्यासजी ने भक्ति-बद्धक श्रीमद्भागवत को प्रकट किया है।

अन्य साधन अपने फल देने में भक्ति की अपेक्षा रहते हैं, अतः वे प्रत्यक्ष फल के दाता नहीं हैं और भक्ति अपने फल देने में सर्वस्वतंत्र है इसलिए भक्ति साक्षात् फलप्रदा है—

देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविक कर्मणाम् ।

सत्त्वएवैक मनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या ॥११॥

अनिमित्ता भगवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी ।

जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा ॥१२॥

(३-२५-३२-३३)

जिस तरह स्वभाव से ही इन्द्रियों की अपने-अपने विषयों में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्दादि में-प्रवृत्ति है, वे इन्द्रियाँ प्रयत्न करने पर भी रुकती नहीं, इसी तरह विशुद्ध मन वाले मनुष्य की इन्द्रिय-वृत्तियों बिना किसी परिश्रम तथा निष्काम-भाव से भगवान् के चरणों में प्रविष्ट होती हैं—तब वह भक्ति कहाती है ।

वेद-विहित कर्मों का भगवत्प्रसन्नता के लिये आचरण करने से मन शुद्ध हो जाता है, और स्वभावतः इन्द्रिय-वृत्ति-प्रवाह भगवान् के चरणों की ओर बहने लगता है, वह भक्ति, मोक्ष से श्रेष्ठ है, मोक्ष सुख-स्वरूप है, और साँड़ के समान है, भक्ति में उस आनन्द स्वरूप के स्वाद का अनुभव आता है, गुड़ और गुड़ के स्वाद लेने वाले में जितना भेद है; उसीके समान मोक्ष-सुख तथा भक्ति-सुख के आस्वादन में भेद है, अर्थात् मोक्ष में समान्याकार का आनन्द है, इसलिये वह सामान्य है, और भक्ति में अनन्त आनन्द रूप अप्राकृत विचित्रताओं का अनुभव है, इसलिये वह अलौकिक और विचित्र आनन्द है, विषयी का मन जैसे विषय में संलग्न रहता है, इसी तरह भनवान् में आसक्ति का नाम भक्ति है, वह भक्ति लिङ्गशरीर को [पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच प्राण मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार यह मिलकर लिङ्ग शरीर है] तथा विमुखता रूप अज्ञान को नष्ट कर देती है, जिस तरह भुक्त-पदार्थों को जठराग्नि पचा देती है, जठराग्नि जिस तरह अन्न पचाने में अन्य की अपेक्षा नहीं करती इसी तरह लिङ्ग शरीर तथा अज्ञान नाश के लिये भक्ति अन्य की अपेक्षा नहीं करती ।

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरता मशीहाः ।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणि ॥१३॥

(३-२५-३४)

मेरी चरण-सेवा में अभिरत कोई विरले भक्त मेरे में लीन-रूपा मोक्ष को भी नहीं चाहते, क्योंकि वह मोक्ष, भक्ति का विरोधी है, क्योंकि

भक्त मेरी चरण सेवा में सर्व-सुखों का अनुभव करते हैं, इसलिए उनकी शरीर मन-वाणी-सम्बन्धी समस्त चेष्टायें मेरे सुख के लिये ही होती हैं, उनका प्रधान कर्तव्य यह है कि वे सामूहिक रूप से एकत्रित होकर मेरी लीलाओं का, बलवती उत्कण्ठा से आस्वादन करते हुए मुझ भगवान को प्रसन्न करते हैं। निष्कर्ष में यह प्रमाणित हुआ कि मोक्ष से भक्ति श्रेष्ठ है। आपके चरित्र के सेवन से क्या होता है? यह श्री कपिलदेवजी के, माता के प्रति कहे हुए, वचनों से वर्णन करते हैं--

पश्यन्ति ते मे रुचिराण्यम्बसन्तः--

प्रसन्न वक्त्रारुणलोचनानि ।

रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि--

साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति ॥१४॥

(३--२५--३५)

मातः! वे मेरे भक्त, प्रफुल्लित मुख कमल वाले तथा अनुराग से पूर्ण, मद भरे नेत्र वाले वरदायक मनोहर दिव्य स्वरूपों का दर्शन करते हैं, और अपने-अपने भावानुसार वार्तालाप भी करते हैं, इस तरह का भगवान् के दर्शन का परमानन्द तथा प्रेममय सम्भाषण मोक्ष में नहीं है, इसीलिए भक्त मोक्ष को नहीं चाहते।

तेर्दर्शनीयावयवरुदार—

विलास हासेक्षित वाम सूक्तं: ।

हृतात्मनो हृतप्राणांश्च भक्ति—

रनिच्छ्रुतो मे गतिमण्डो प्रयुड़क्ते ॥१५॥

(२-२५-३६)

जिन भगवान के मुख, कर, पादादि अवयव परममनोहर चित्ताकर्षक एवं दर्शन करने योग्य हैं, उन भगवदरूपों ने, अपनी विचित्र लीला, मन्द मुसक्यान, भाव भरी चित्तवन और मनोहर वाणी के द्वारा, जिन भक्तों का मन तथा वाह्य इन्द्रियाँ हरण कर लीं हैं, वे निरतिशयानन्द में मग्न हैं, यद्यपि वे मोक्ष को नहीं चाहते, तथापि मेरी भक्ति उनके लिए मुक्ति का दान करती है, अर्थात् आत्मानन्द का अनुभव कराती है, इसका

तात्पर्य यह नहीं है कि आत्मानन्दानुभव होने से भक्ति न रहती हो, किन्तु भक्ति महारानी जहाँ निवास करती हैं, वहाँ मोक्ष (मुक्ति) आदिक सेवक-सेविकायें स्वयं आकर उपस्थित होती हैं, “हरिभक्ति महादेव्याः सर्वं मुक्त्यादि सिद्ध्यः । भुक्तियश्चादभुतास्तस्या चेटिका वदनुव्रताः ॥” हरिभक्ति महारानी को भुक्ति, मुक्ति, आदिक सिद्धियाँ दासी की तरह अनुचर हैं, अर्थात् पृथक् परिश्रम के बिना ही भक्ति से मुक्ति मिल जाती है, इसलिये मुक्ति अण्वी* (छोटी) है, अथवा भक्ति-मुख की अपेक्षा मुक्ति सुख छोटा है, अतएव मुक्ति छोटी है ।

धाम की प्राप्ति होने पर भक्त की विभूतियां स्वतः ही प्राप्त हो जाती हैं--

अथो विभूतिं सम माययाच्चिता--

मंश्वर्यं मष्टाङ्गमनुप्रवृत्तम् ।

श्रियं मागवतीं चाऽस्यृहयन्तिभद्रां--

परस्य मे तेऽशनुवतेनुलोके ॥१६॥

(३--२५--३७)

अविद्या निवृत्ति के पश्चात्, मेरी अनुकम्पा से प्रकट हुईं विचित्र भोग सम्पत्तियाँ तथा अणिमादिक अष्ट सिद्धियाँ मेरे भक्त के पास बिना आह्वान के स्वतः आ जाती हैं और अविद्या से रहित सच्चिदानन्द स्वरूप अतएव कल्याणमय, मेरे परमधाम की विभूतियाँ भी भक्त के पास आ जाती हैं, यद्यपि मेरा भक्त इन वैभवों की स्पृहा नहीं करता, तो भी मेरे धाम में कल्याण-स्वरूप सम्पत्ति को प्रसाद रूप समझकर उनका उपभोग करता है ।

न कर्हचिन्मत्पराः शान्त रूपे—

नङ्ग्यन्ति नो मे निमिषो लेडि हेतिः ।

येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च—

सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम् ॥१७॥

(३--२५--३८)

यहाँ पर यह शंका हो सकती है कि जैसे स्वर्गादि के भोक्ता, उनके भोग्य पदार्थों के नष्ट होने पर उस लोक से गिरा दिये जाते हैं, क्या

*कोई अचार्य ‘अण्वी गति’ का पार्षद स्वरूप की प्राप्ति होना अर्थ करते हैं ।

इसी तरह बैकुण्ठ के भोग्य नष्ट होने पर वहाँ से लौटना पड़ेगा ? नहीं, क्योंकि अविकारी परम शान्तस्वरूप बैकुण्ठ लोक नित्य है और उसमें निवास करने वाले भी नित्य हैं, इसीलिए मेरे भक्त कभी नष्ट नहीं होते और सर्वदा जागृत अवस्था में रहने वाला मेरा काल-शस्त्र भी, उन भक्तों का स्वाद नहीं लेता अर्थात् ग्रसित नहीं करता, वे मेरे भक्त मुख को ही अपना प्राणपति तथा आनन्द-विग्रह, पुत्र, सखा गुरु, सुहृद और इष्टदेव मानते हैं।

इमं लोकं तथैवामुमात्मानमुभयायिनम् ।

आत्मानं मनु ये चेह ये रायः पश्वोऽपरे ॥१८॥

विसृज्य सर्वनिन्यांश्च मामेकं विश्वतो मुखम् ।

भजन्त्यनन्यया भक्त्या तान्पृत्योरति पारये ॥१९॥

(३--२५--३८।४०)

इस प्रकार की प्रेम-स्वरूपा भक्ति का दान भगवान भक्तों के लिए ही करते हैं। यही बात श्री कपिलदेवजी कहते हैं—

ऐहिक-विषयों तथा स्वर्गादि को त्याग कर तथा उभय-लोक के भोक्ता, मनुष्य और देव शरीरधारी आत्मा से प्रीति हटाकर, और आत्मा के अनुचर स्त्री, पुत्र, दास, दासियों में से—तथा धन, पशु, गृह में से, और भी जो स्नेहास्पद मान रखे हैं, उन सब में से प्रीति-बन्धन को तोड़कर केवल मेरा ही साधन-भक्ति से भजन करते हैं, उनको मैं पृथ्यु रूप संसार चक्र से निकाल कर उत्तम पार (अलौकिक धाम) में पहुँचा देता हूँ। अर्थात् जिस भक्ति के द्वारा मेरे धाम की प्राप्ति होती है, उस प्रेम-भक्ति का भक्त को दान देकर, अपने निजी धाम में पहुँचाता हूँ, और अन्य (मोक्षादि चाहने वालों) को निर्वाणादि पद देता हूँ। निष्कर्ष यह है कि केवल भक्त तथा मोक्षेच्छु भक्तों की प्राप्य-वस्तु में बहुत अन्तर है।

नान्यत्रमद्भगवतः प्रधानं पुरुषेश्वरात् ।

आत्मनः सर्वभूतानां भयं तीव्रं निवत्तते ॥२०॥

(३-२५-४१)

मैं प्रकृति और जीव का ईश्वर हूँ, तथा सर्व-जीवों का आत्मा (अन्तर्यामी) प्रेष्ठ हूँ, ऐसे मुझ भगवान् के भजन बिना संसार-रूप भय

निवृत्त नहीं होता, अर्थात् जो भक्ति नहीं करते हैं, उनको मोक्ष भी नहीं मिलता है।

तस्मात्त्वं सर्वं भावेन भजस्व परमेष्ठिनम् ।

तदगुणाश्रयया भक्त्या भजनीय पदाम्बुजम् ॥२१॥

(३-३२-२२)

क्योंकि मेरे आश्रय बिना भय की निवृत्ति नहीं होती, इसलिये आप अत्यन्त प्रीति से युक्त तथा भक्त-वात्सल्यादि गुणों का स्मरण कर, प्रत्येक क्षण में वृद्धि को प्राप्त होने वाली भक्ति के द्वारा, भजनीय जिनके चरण-कमल हैं, उन श्रीभगवान् का सेवन करो, भजो ।

माता सुनीति ने अपने पुत्र ध्रुव से कहा है-

तमेव वत्साश्रय भृत्य वत्सलं--

मुमुक्षुभिर्ग्य पदाब्ज पद्धतिम् ।

अनन्य भावे निज धर्म भाविते--

मनस्यवस्थाप्य भजस्व पूरुषम् ॥२२॥

नान्यं ततः पद्मपलाश लोचनाद--

दुःखच्छिदं ते मृगयामिकञ्चन ।

यो मृग्यते हस्तगृहीतपदमया--

श्रियेतरंगं विमृग्यमाणया ॥२३॥ (४-८-२२, २३)

ब्रह्मा श्रादिक अपने मनोभिलषितों की पूर्णता के लिये, जिन श्रीलक्ष्मीजी की खोज करते हैं, अर्थात् समाधि से चिन्तन करते हैं, हाथ में कमल धारण किये हुए वे श्रीलक्ष्मीजी जिन भगवान् का अन्वेषण (खोज) करती हैं, लाल ! तुम उन्हीं भगवान् का आश्रय ग्रहण करो तथा भजन करो । क्योंकि यह नियम है—लोक में भी भयभीत जन शरण में आकर पीछे सेवा करता है, और भगवान् का भक्तों पर वात्सल्य, करोड़ों माताओं के वात्सल्य से भी बढ़कर है, तथा मुमुक्षु-जन जिन श्रीभगवान् के चरणकमलों के मार्ग को ढूँढ़ते हैं, अर्थात् जिनका चरण-कमल मोक्ष नाम से संबोधित किया जाता है, पुत्र ! अन्य देवताओं का आश्रय छोड़कर निज-धर्म, भक्ति द्वारा शुद्ध किये गये मन में उन भगवत् की स्थापना कर भजन करो, तेरे दुःखों

का अन्त (नाश) करने वाला उन कमल-नयन भगवान् के अतिरिक्त दूसरा कोई मैं नहीं समझती हूँ ।

अथाभजेत्वाखिलं पूरुषोत्तमं—

गुणालयं पदम् करेव लालसः ।

अप्यावयोरेकं पति स्पृधोः कलि—

नंस्यात्कृत्तवच्चरणंकतान् योः ॥२४॥ (४-२०-२७)

लक्ष्मीजी भगवान् का ही क्यों भजन करती है ? क्योंकि भगवान् समस्त गुणों के आकर हैं, अतः सर्वोत्तम हैं, इसीलिए लक्ष्मीजी भी उन्हें भजती हैं ।

जिस तरह लक्ष्मीजी महती लालसा से आपकी सेवा करती हैं, इसी तरह मैं भी सर्वोत्तम आपके श्रीचरणों की सेवा करूँगा । कहीं ऐसा न हो कि एक ही पति की सेवा करने वाले हम दोनों में कहीं परस्पर झगड़ा न होजाय ।

क्योंकि सेवा प्राप्त करने की होड़ दोनों में लगी है । यदि क्रमशः सेवा की जाय तो कलह नहीं होगा ? किन्तु सेवा में क्रम नहीं चलेगा क्योंकि मैं और लक्ष्मी विराम रहित सेवा करना चाहत हूँ अर्थात् एक क्षण को भी अलग होना नहीं चाहते हैं—

जगज्जनन्यां जगदोश वैशसं--

स्यादेव यत्कर्मणि नः समीहितम् ।

करोति फलवप्युरु दीनवत्सलः--

स्व एवधिष्ठेऽभिरतस्य किं तया ॥२५॥ (४-२०-२८)

जगज्जननी श्रीलक्ष्मीजी से विरोध तो होगा ही, क्योंकि लक्ष्मी जी के करने योग्य आपकी सेवा रूप कर्म करने में मेरी प्रबल इच्छा है, माता तो वक्षःस्थल में निवास करती है, और मैं (पुत्र) चरणों की सेवा करूँगा । आप तो छोटे को भी महान् बना देते हैं, क्योंकि आप दीनवत्सल हैं इसलिये आप मेरा ही पश्च करेंगे, अपने परमानन्द स्वरूप में सर्वदा रमण करने वाले आपका लक्ष्मी जी से कोई भी प्रयोजन नहीं है, इसका भक्तों के ऊपर वात्सल्य दिखाने में-तात्पर्य है, वस्तुतस्तु लक्ष्मी जो माता के सट्टश भगवद्भक्त के ऊपर अनुग्रह ही करती हैं ।

श्रीमहादेवजी भी प्रचेताओं से भक्त की महिमा कहते हैं—

यः परं रंहसः साक्षात् त्रिगुणाज्जीव संज्ञितात् ।

भगवन्तं वासुदेवं प्रपन्नः स प्रियो हि मे ॥२६॥

(४-२४-२८)

यह बात नहीं कि भगवान् को ही अपने भक्त प्यारे हों, किन्तु श्रीमहादेवजी कहते हैं कि मुझको अपने भक्त इतने प्रिय नहीं, जितने कि मुझे वासुदेव के भक्त "प्यारे हैं—जो साक्षात् वासुदेव भगवान् की चरण-छाया में रहता है, वही मेरा प्यारा है, कदाचित् वह मेरा अपराध भी करता है, तौ भी मेरा प्यारा ही है। क्योंकि 'प्रेम' दोष-दर्शन से नहीं हटता, "सर्वथा ध्वंस रहितं सत्यपि ध्वंस कारणे" नाश का कारण प्राप्त होने पर भी जो प्रीति किसी अंश में नष्ट नहीं होती उसका नाम प्रेम है। श्रीमहादेवजी भक्त तथा भगवान् के सच्चे प्रेमी हैं, इसलिए उसमें ऐसा प्रेम होना योग्य ही है और भगवान् भी सूक्ष्म त्रिगुण-स्वरूपा माया तथा जीव के नियामक अर्थात् वश में रखने वाले हैं।

भगवद् भक्तों की प्रियता के संबंध में शिवजी कहते हैं—

अथ भागवता यूयं प्रियाःस्थ भगवान् यथा ।

नमङ्गागवतानांश्च प्रेयानन्योऽस्ति कर्हिचित् ॥२७॥

(४-२४-३१)

निश्चय ही आप महेश्वर भगवान् के प्रिय हैं, अतएव भगवान् के सदृश मेरे भी प्यारे हैं और भगवान् के भक्त जिस तरह भगवान् से दूसरे को अपना प्रिय नहीं समझते ऐसे ही मुझसे भी अन्य किसी को वे अपना प्यारा नहीं समझते हैं।

तत्कर्म हर्तिष्ठं यत्साविद्यातन्मतिर्यथा ।

हरिदेह भृत्यामात्मा स्वयं प्रकृतिरीश्वरः ॥२८॥

(४-२८-४८)

सर्व कर्म, ज्ञान, योगादिक भगवत् की प्रसन्नता के लिये होने से भगवत् परक हैं, यह पहले कह चुके हैं, फिर भी उसी को पुष्ट करते हैं—

हरि की प्रसन्नता जिन कर्मों से होती है, वे ही कर्म हैं, और सब अकर्म हैं। जिस विद्या से भगवान् में भक्ति हो, वही विद्या है, और सब अविद्या है (शास्त्रोत्पन्न ज्ञान का नाम विद्या है); क्योंकि भगवान् सब जीवों के ईश्वर हैं और सब के अन्तर्यामी रह कर सबके नियामक हैं, अर्थात् वश में रखने वाले हैं तथा स्वतन्त्रतया सब जगत् के कारण हैं। अपने ईश्वर एवं उत्पन्न करने वाले तथा अपने नियन्ता की प्रसन्नता के लिये कर्म करना जीव मात्र का धर्म है।

भक्ति युक्त पुरुष में समस्त गुणों सहित देवता निवास करते हैं—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना—

सर्वैर्गुण्यस्तत्र समाप्तेसुराः ।

हरावभक्तस्य कुतोमहदगुणा—

मनोरथेनासति धावतो वहिः ॥२६॥

(५-१८-१२)

हरि-भक्ति करने से अन्य देवताओं की भी सेवा हो जाती है—मन के शुद्ध होने से जिसकी भगवान् में निष्काम भक्ति है, उस मनुष्य के हृदय में शिव, ब्रह्मा, इन्द्रादि देवता धर्म, ज्ञान, वेराग्यादि गुणों को लेकर सानन्द निवास करते हैं, और यह भी है कि जिस स्थान में सर्व देवमय भगवान् निवास करते हैं, वहाँ अन्य देवता तो रहते ही हैं—उत्तम-गृह में रहना सभी चाहते हैं अर्थात् सर्वदेवमय भगवान् की सेवा ही सर्वदेव-सेवा है, और जो हरि-भक्त नहीं है, उसमें उत्तम गुणों का भी अभाव रहता है, क्योंकि भक्ति हीन नर सत्पुरुषों से निन्दित विषय—मुख तथा पूजा-प्रतिष्ठा आदिक सुखों में मन-स्वरूप रथ पर आरूढ़ होकर ढौड़ता है।

हरिर्हि साक्षात् भगवाञ्छ्रीरिणा

मात्मा ज्ञाणामिव तोयमीप्सितम् ।

हित्वामहांस्तं यदि सज्जते गृहे

ततो महत्वं वयसा दम्पतीनाम् ॥३०॥

(५-१८-१३)

प्रश्न—भक्ति-रहित होने पर भी जो शास्त्रीय ज्ञानादि गुणों से युक्त हैं तथा सांसारिक-विषयों में फँसे हुए हैं, वे भी लोक में प्रतिष्ठित तथा बड़े समझे जाते हैं ?

उत्तर—ठीक है, किन्तु वह महत्व (बड़प्पन) हास्यास्पद है, जिस तरह मछलियों का प्रिय-आत्मा जल है, जिसके बिना उनका जीवन असम्भव ही नहीं, किन्तु नितान्त कठिन है, इसी तरह जीवों के अति प्रिय आत्मा श्रीहरि हैं, उनके बिना मृत्यु-स्वरूप संसार से निकल कर परमानन्दमय-भक्ति में रमण-रूप जीवन दुर्लभ है। उस भगवान् की भक्ति को छोड़कर जो संसार में आसक्त हैं, यद्यपि वे सर्वगुण-सम्पन्न होने से श्रेष्ठ कहे जाते हैं, किन्तु वह श्रेष्ठता (महत्ता) अवस्था विशेष से ही समझनी चाहिये। जिस तरह धूदादि योनियों में अवस्था के आधिक्य से बड़ा कहा जाता है, ज्ञानाधिक्य से नहीं; इसी तरह वे श्रेष्ठ पुरुष ज्ञानादिक से ही बड़े हैं, सर्व वासना-रहित भक्ति के आचरण से महान् नहीं हैं, प्रत्युत श्री पुरुष के जोड़े की तरह छुटाई-बड़ाई है। जिनके शिर पर कामादिक का दण्ड धूम रहा है, अर्थात् जो कामिनी-काञ्चन के दास बने हुए हैं, वे श्रेष्ठ कैसे कहे जा सकते हैं।

स वै पतिः स्यादकुतोभयः स्वयं

समन्ततः पातिभयातुरं जनम् ।

स एक एवेत रथामिथो भयं

नैवात्म लाभादधिमन्यते परम् ॥३१॥

(५-१८-२०)

इसलिये सर्व प्रकार से भगवान् को भजना ही श्रेयस्कर है, अन्य देवों का आश्रय ग्रहण करना निष्फल है, क्योंकि वे स्वयं अपनी रक्षा नहीं कर सकते,—यही बात श्रीलक्ष्मीजी कहती हैं—

जो स्वयं किसी से भी न डरता हो तथा भय से व्याकुल अपने भक्त को सर्व प्रकार से सर्वत्र, सर्वदा, सर्व भयों से रक्षा करता हो, वही पति हो सकता है, प्रभो ! ऐसे एक आप ही हैं। यदि अनेक पति मान लिये जायें, तो जिस तरह समान राजाओं में परस्पर युद्ध होता है, इसी तरह उन पतियों में भी झगड़ा होने की सम्भावना है, अतः आप ही एक मुख्य पति हैं, इसलिये शास्त्रज्ञ-जन भी आपकी प्राप्ति से अधिक और किसी को नहीं मानते हैं।

सुरोऽसुरो वाप्यथ वानरोनरः
 सर्वात्मना यः सुकृतज्ञमीश्वरम् ।
 भजेत रामं मनुजाकृति हरिं
 य उत्तराननयत्कौशलान्दिवम् ॥३२॥
 (५-१६-८)

इसलिये सबको चाहिये कि भगवान् की ही सेवा करें, उस सेवा से ही भगवान् प्रसन्न होते हैं। कोई यह भी न समझे कि भगवान् उत्तम कुल में जन्मादि से हो प्रसन्न होते होंगे, यदि ऐसा होता तो बन्दर-भालुओं का कहीं ठिकाना ही न था, यही श्री हनुमान जी कहते हैं—जो श्रीराम जी अयोध्यावासी तरु, गुल्मादि सभी जीवमात्र को साकेत-धाम में ले गये, उन नराकृति श्रीरामजी का जो मनुष्य तथा मनुष्य से भी भिन्न देवता, दैत्य, राक्षसादि भजन करते हैं, उन पर ही श्रीरामजी प्रसन्न होते हैं, क्योंकि श्रीरामजी सबके ईश्वर हैं और अल्प-भजन को भी बहुत मानते हैं।

न जन्म तूनं महतो न सौभगं
 न वाङ् न बुद्धिर्कृतिस्तोष हेतुः ।
 तैर्यंद्विसृष्टानपि नो वनौकस
 शकार सख्ये वत लक्ष्मणाग्रजः ॥३३॥
 (५-१६-७)

यह प्रत्यक्ष है कि भगवान् अपनी भक्ति के अतिरिक्त किसी कारण से प्रसन्न नहीं होते, उत्तम कुल, सुन्दर रूप, सुन्दर वाणी और उत्तम जाति आदिक से रहित होने पर भी, हम बानर, भालुओं को उन लक्ष्मण जी के ज्येष्ठ भ्राता श्रीरामजी ने अपना निजी सखा बना लिया, इसलिये श्रेष्ठ कुल में जन्म, सुन्दर रूप और सुन्दर वाणी तथा बुद्धि, उत्तम जाति ये भगवान् की प्रसन्नता के कारण नहीं हैं।

जो जीव भगवान् की भक्ति करता है, भगवान् उसी के ऊपर प्रसन्न होते हैं। वह जीव चाहे जिस जाति-कुल में उत्पन्न हुआ हो, भगवान् किसी के रूप, गुण धन, कुल तथा परिजन से प्रसन्न नहीं होते हैं।

सत्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणां

नेवार्थदो यत्पुनरर्थिता यतः ।

स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छता

मिच्छापिधानं निजपादपलवम् ॥३४॥

(५-१८-२७)

भगवद्भूजन करने वाले भक्तों में भी निष्काम भक्त ही कृतार्थ हैं ।

यद्यपि यह सत्य है कि भक्त जिस पदार्थ की चाहना करता है, भगवान् उस पदार्थ का दान करते हैं; किन्तु सर्वोत्तम वस्तु का दान फिर भी नहीं करते, क्योंकि अनर्थ स्वरूप विषय के दान देने पर वह भगवान् से अन्य पदार्थों की भी याचना करेगा, अर्थात् सर्वदा उसकी याचक-वृत्ति ही बनी रहेगी ।

प्रश्न—यदि भक्त किसी प्रकार की याचना न करे तो भगवान् कुछ नहीं देंगे क्या ?

उत्तर—जो निष्काम-भाव से भजते हैं, उनकी सर्व इच्छाओं के ढकना स्वरूप अर्थात् सम्पूर्ण कामनाओं के पूर्ण करने वाले अपने श्रीचरण कमलों का भगवान् दान करते हैं अथवा शुद्ध-भक्ति करने वाले जो सकामी-भक्त हैं, वे भी निष्काम-भक्तों के सदृश हैं, क्योंकि भक्तों के मनो-भिलषित पदार्थ का दान देते हुए भी भगवान् ऐसे पदार्थों का दान नहीं करते, जिससे कि भक्त को फिर माँगना पड़े ।

प्रश्न—यह कैसे जाना जाय कि भगवान् नश्वर पदार्थों का दान भक्त के लिये नहीं करते ?

उत्तर—जिस तरह ध्रुवादिकों ने भगवद्वरणों की चाहना नहीं की, तो भी भगवान् ने उनको अपना कृपा-पात्र बनाया अर्थात् अपनी चरण-सेवा प्रदान कर सांसारिक-पदार्थों में से आसक्ति को तोड़ दिया । इसी तरह जो भक्त आपके चरण-कमलों की चाहना न करके अन्य पदार्थों की चाहना करते हैं, उनको भी आप अपनी कृपा से, सर्व कामन ओं के पूर्ण करने वाले चरणारविन्दों का दान करते हैं और आप स्वतः दयान्वित

होकर भक्त की सब इच्छाओं को नष्ट कर देते हैं। माता जिस तरह मिट्टी खाने वाले बालक के मुख में मिश्री डालकर उसका स्वाद दिलाती है और उसका मिट्टी खाना हुड़वा देती है, इसी तरह भगवान् विषयों में आनन्द मानने वाले भक्त के नृदय में सर्वानन्द पूर्ण चरण-कमल की मिठास को चखा, विषयों से अरुचि करा, परम-भक्त बना देते हैं। यह भगवान् की परम कारुण्यिकता है, अर्थात् भगवान् जब कृपा करते हैं, तो जीव को संसार से विरक्त कर देते हैं।

प्रश्न—प्रायः महत्पुरुष भी विषय-भोगों के लिये प्रयत्न करते देखे जाते हैं।

उत्तर—जो विषयासक्त हैं, वे महत्पुरुष कहाने के योग्य नहीं हैं, क्योंकि विषय-वासना को त्यागकर जो भक्ति करते हैं, वे ही महत्पुरुष कहे जाते हैं। श्रीप्रल्लाद जी कहते हैं—

तत्साधुशन्येऽसुरवर्य देहिनां

सदा समुद्विग्न धियामसदग्रहात् ।

हितवात्म पातम् गृहमन्ध कूपं

वनं गतो यद्गुरिमाश्रयेत् ॥३५॥

(७-५-५)

हे अमुर श्रेष्ठ ! “मैं हूँ, मेरा है” शरीर में इस असत् अभिनिवेश से जिनकी बुद्धि व्याकुल हो रही है, उनके लिये मैं तो यही अच्छा समझता हूँ कि आत्मा को घोर तरक में पहुँचाने वाले अन्ध-कूप-गृह को छोड़कर वन में जाकर हरि का आश्रय ग्रहण करें।

घर अन्धे-कूप के समान मोह को बढ़ाने वाला है। यहाँ पर हरि का आश्रय ही वन में जाना है, आसक्ति का न करना ही घर का त्याग है। भगवत् चरणों का आश्रय लेकर अनाशक्त भाव से भक्ति करना ही गृह त्याग है।

एतावानेव लोकेऽस्मिन्पुंसां धर्मः परः स्मृतः ।

भक्तियोगो भगवति तन्नाम ग्रहणादिभिः ॥३६॥

(६-३-२२)

इसीलिये यह ठीक ही कहा है कि जिस भगवदर्पण धर्म से भगवान् में भक्ति होती है, वही परम-धर्म है। जिस भक्ति के आश्रय से वर्णाश्रम धर्म भी परभ-धर्म हो जाते हैं, वह भक्ति-धर्म स्वयं ही सर्वशेष-धर्म है, इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं। और कर्मादिक भी भक्ति के सम्बन्ध से ही उत्तम धर्म समझे जाते हैं। जिस तरह गङ्गा स्वयं भी पवित्र रूपा है, और उसमें स्नान करने वाले भी उसके सम्बन्ध से ही पवित्र हो जाते हैं। इस लोक में भगवान् की नामोच्चारणादि-रूप जो नवधा-भक्ति है, वही जीव-मात्र का परम-धर्म है अर्थात् सर्व-धर्मों में पूज्य है ऐसा नहीं समझना चाहिये कि—नामोच्चारणादि कर्म की उत्तमता के लिये हैं; अतः वे परम-धर्म नहीं हैं। इसके निवारण के लिये 'एतावानेव' श्लोक में 'एव' शब्द का पाठ है। क्योंकि कर्मों को दोष-रहित करना साधारण कार्य है, उसके लिये सर्व शिरोमणि भगवन्नाम का उच्चारण करना नाम-महत्व में न्यूनता लाना है। भगवन्नाम हमारा परम-प्रिय है, यह समझकर सर्वदा प्रेम-प्राप्ति के लिये उसका कीर्तन करना चाहिये। जीव का भगवान् और भगवान् का जीव प्रेष्ठ है, सखा है, इसलिये अपने प्यारे का नाम अहर्निश रटना प्रीति-वर्द्धक है और ससार-दावानल से निकाल कर परम-शान्तिमयी श्री भगवान् की सन्निधि में ले जाकर आनन्द-सागर में डुबाने वाला है। अतः अत्यन्त शक्तिशाली भगवन्नाम का अल्प शक्ति कर्मादिकों के लिये उच्चारण करना अच्छा नहीं है। 'स वै पुंसाम्' इत्यादि श्लोक के दूसरे अर्थ में जो साधन-भक्ति को परम धर्म कहा है, उसी अर्थ का पोषक यह श्लोक है।

प्रश्न—देवता तथा पितृ आदिकों के न भजने से, उनसे भय की सम्भावना है ?

उत्तर—भगवद् भक्तों को किसी से भय नहीं होता। स्त्री, शूद्रादिक भी जो नारायण के भक्त हैं, वे भक्त भगवान् के बिना किसी में भी प्रेम नहीं करते तथा न किसी से डरते हैं, यही कहते हैं—

नारायण पराः सर्वे न कुतश्च न विभयति ।

स्वर्गापवर्ग नरकेष्वपितृल्यार्थदर्शिनः ॥३७॥

(६-१७-२८)

वे भक्त स्वर्ग, मोक्ष, नरक आदिक में भक्ति सुख न होने से त्याज्य रूप स्वर्ग-नरक को समान ही देखते हैं। जो भगवान् की प्रसन्नता चाहते हैं, उनके लिये भगवान् को छोड़कर अन्य कोई भी वस्तु न तो उत्तम है, और न जघन्य (नोच) है; उनके लिये तो भगवद् सेवा में सहायता पहुँचाने वाली वस्तु ही उत्तम है, और सब नोच हैं।

वासुदेवे भगवति भक्तिमुद्वहतां नृणाम् ।
ज्ञान वैराग्य वीर्याणां नेह कश्चिद व्यपाश्रयः ॥३८॥

(६-१७-३१)

पूर्व श्लोक से यह सूचित किया कि भक्त, भगवान् के बिना अन्य वस्तु की स्पृहा नहीं करते हैं, यही बात श्रीमहेशजी श्रीउमा के प्रति कह रहे हैं—

श्रीभक्ति महारानी की अनुकम्पा से जिन भक्तों के हृदय में परमानन्द परम सुन्दर स्वरूप के अनुभव (स्वाद) की तथा भगवान् से अन्य पदार्थों से वैराग्य को शक्ति है, उनको इस जगत् में अपने दुःख दूर करने के लिये तथा सुख को प्राप्ति करने के लिये भगवान् से अन्य उत्तम वुद्धि से आश्रय करने योग्य कोई भी नहीं है, अर्थात् परमानन्द की प्राप्ति और संसार-चक्र की निवृत्ति भगवदाश्रय से ही हाती है।

मतिर्नं कृष्णे परतः स्वतो वा
मिथोऽभिपद्येत गृहन्नतानाम् ।
अदान्त गोभिविषतां तमित्यं
पुनः पुनश्चवित्तचर्वणानाम् ॥३९॥

(७-५-३०)

भगवद्भजन भी सब लोग क्यों नहीं करते हैं? इस पर श्री प्रल्लाद जी कहते हैं कि जिन्होंने गृह-कार्य में ही लगे रहने का सङ्कल्प कर लिया है और जो अजित इन्द्रियों के वशवर्ती होकर नरक-गामी हो रहे हैं, तथा जो पशु के सदृश प्रति-दिन चर्चित (चबाये हुये) विषयों को ही चबाने वाले हैं, उनको श्रीगुरु उपदेश से अथवा परस्पर के सङ्ग से तथा स्वयं भी

श्रीकृष्ण में भक्ति नहीं होती । तात्पर्य यह है कि विषयाशक्ति-रूप दोष से दूषित होने से सभी जीव भगवान् का भजन नहीं कर सकते हैं ।

न ते विदुः स्वार्थं गति हि विष्णुं

दुराशया ये बहिरथं मानिनः ।

अन्धायथान्धेरूपनीयमाना

स्तेऽपीश तन्त्र्यामुरुदाम्निबद्धाः ॥४०॥

(७-५-३१)

प्रश्न— परम-सुख की सभी जन इच्छा करते हैं और श्रीकृष्ण परमानन्दकन्द अखिल-भुवन के आनन्ददाता तथा सुख-स्वरूप हैं, फिर भी मनुष्य को श्रीकृष्ण में निष्ठा क्यों नहीं होती ? यदि दुःख-रूप में निष्ठा न हो, तो कोई बात नहीं, किन्तु सुख-स्वरूप में तो होनी चाहिये ।

उत्तर—जिनका चित्त विषय-वासनाओं में आसक्त हो रहा है, वे लोग स्वार्थ के देने वाले विष्णु भगवान् को नहीं जानते हैं, इसलिये उनकी भगवान् में निष्ठा नहीं होतो, और गुरु-उपदेश से भी नहीं जान सकते, क्योंकि “यथोपदेष्टा तथा शिष्यः” शिष्य तो गुरुजी का ही अनुकरण करता है, तथा उनके उपदेश पर ही चलता है । उन लोगों के गुरुजी भी उसी तरह के (विषयासक्त) होते हैं । अतएव वे स्वयं भगवद्विषय में अनभिज्ञ रहते हैं, इसलिये शिष्य भी उसी मार्ग (भगवद्विमुखता) पर चलते हैं । जिस तरह मार्ग को न जानने वाला अन्ध-पुरुष दूसरे अन्धे को लेकर चलता है, और गत्ते (गड्ढे) में गिर जाता है, इसी तरह अज्ञानी गुरु के अनुगामी शिष्य वेद-विहित ब्राह्मणादि नाम स्वरूप रस्सों में बंधकर सकाम-कर्म करते हुए संसार में ही दुःखों को भोगते हैं, तथा परमानन्द-स्वरूप भगवान् को प्राप्त नहीं होते । भगवत्प्राप्ति में विषय-वासना ही बाधक है, इसलिये जब तक विषयों से वासना नहीं हटती है, तब तक हर समय भगवद्भजन ही करना चाहिये । इसका तात्पर्य यह नहीं है कि विषय-निवृत्ति के बाद भजन नहीं करना चाहिये, किन्तु यह है कि भगवद्भजन से विषय-वासना शीघ्र ही नष्ट होती है और अनन्तानन्द की प्राप्ति होती है । कहा भी है—

“विषयाविष्ट चित्तानां विष्णवावेशः सुद्वरतः ।
वार्णी दिग्गतं वस्तु वजन्नन्द्रीं किमाप्नुयात् ॥”

जिनका चित्त विषयों में फँस रहा है, उनकी भगवान् में आसक्ति नहीं हो सकती है। पूर्व दिशा की ओर जाने वाला मनुष्य पश्चिम दिशा में रहने वाली वस्तु को कैसे प्राप्त कर सकता है।

कौमार आचरेत्प्राज्ञो धर्मान्भागवतानिह ।
दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम् ॥४१॥

(७-६-१)

इस श्लोक में मेधावी पुरुष को चाहिये कि वह पाँच वर्ष की अवस्था से ही श्रवण कीर्तनादि भक्ति-धर्मों का अपने हृदय में प्रसार करे अर्थात् कौमारावस्था से ही भगवद्भजन करना चाहिये, क्योंकि मानुष-जन्म बड़ी कठिनता से प्राप्त होता है, इतनी दुर्लभता से मिलने पर भी क्षण-भंगुर है, और इस बात का तो पता ही नहीं कि यह देव-दुर्लभ मनुष्य-शरीर न जाने कब और किस समय नष्ट हो जाय। इतना सब कुछ होते हुए भी चित्स्वरूप सर्वोत्तम वस्तु-भक्ति का देने वाला है। एक मुहूर्त अवस्था वाला ‘खट्वाङ्ग’ एक घड़ी के भजन से ही भगवान् को प्राप्त हो गया था,—यह सुनने और देखने में आता है।

न ह्यच्युतं प्रीणयतो वह्न्यासोऽसुरात्मजाः ।
आत्मत्वात् सर्वभूतानां सिद्धत्वादिह सर्वतः ॥४२॥

(७-६-१६)

यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि अस्थिर बुद्धि चच्चल-चित्त वाले बालक तथा चिन्ता-ग्रस्त वृद्ध लोग भगवद्भजन कैसे कर सकते हैं? यह श्रीप्रह्लादजी के वचन से दिखाते हैं।

हे असुर बालको! सांसारिक-कामों (कुटुम्ब पालनादि) में जो परिश्रम होता है, वह भगवद्भजन में नहीं होता, अर्थात् बालक-बृद्ध सभी सरलता से भजन कर सकते हैं, और अच्युत-भगवान् को बिना किसी प्रयास के (सुलभता से) प्रसन्न कर सकते हैं, क्योंकि वे अच्युत भगवान् सबके हृदय में विराजमान हैं, तथा भगवान् की प्रसन्नता सर्व प्रकार के

उपचारों से हो सकती है अर्थात् मानसिक-पदार्थों द्वारा की गई आराधना से भी प्रभु प्रसन्न हो जाते हैं। नवधा-भक्ति में किसी एक के द्वारा भी भगवत्प्रसन्नता हो सकती है।

कोऽति प्रयासोऽसुर बालका हरे

रुपासने स्वे हृदि छिद्र वत्सतः ।

स्वस्यात्मनः सख्युरशेष देहिनां

सामान्यतः किं विषयोपपादनैः ॥४३॥

(७-७-३८)

हे अमुर बालको ! भगवान् मेरा और तुम्हारा तथा सबका प्रिय मित्र है, क्योंकि वह सर्वदा हमारा भला ही करता है और सर्वभूतान्तरात्मा होने से हमारे हृदय में भी आकाश की भाँति स्थित है। ऐसे परम प्रेष्ठ श्रीहरि की भक्ति करने में कौन से कठिन परिश्रम की आवश्यकता है अर्थात् भगवदभक्ति करने में कोई भी दुर्जय-प्रयास नहीं करना पड़ता, क्योंकि कष्ट का साधन होने पर भी मित्र की प्रसन्नता में वह दुःखद नहीं होता। और अपना प्राणवल्लभ प्रेम करने से ही प्रसन्न होता है, तो हमको कहीं दूर देश में जाने का क्लेश भी नहीं उठाना पड़ेगा, क्योंकि हमारा प्यारा, हमारे हृद-प्रदेश में बैठा है। और भगवान् भी तो कहते हैं—

“पत्रं पुष्पं फलं तोयं धो मे भक्त्या प्रयच्छति ।

तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयत्नात्मनः ॥”

पात फूल फल नीर को, जो अर्पें करि प्रीति ।

लेउँ दियो हौं भक्त को, किये प्रेम की रीति ॥

भगवान् से मिलने के कितने सरल उपाय हैं, जीव यदि चाहे, तो केवल फूल-पत्तियों से ही भगवान् को प्रसन्न कर सकता है; किन्तु यह इसकी ढीठता है कि सर्व शक्तिमान भगवन्नाम तथा सुन्दर वाणी और मन के रहने पर भी अधोगति को प्राप्त होता है। यही आश्र्वय है। ऐहिक विषय-भोग तो कूकर-सूकर योनियों में भी भरपूर मिल जाते हैं, इसलिये इनके एकत्रित करने में लगे रहना मनुष्य का कर्तव्य नहीं है। यदि दुनियावी-साधनों में ही हम लगे रहेंगे, तो पशु-पक्षी और मनुष्य में क्या अन्तर रहेगा ? अर्थात् मनुष्य और अन्य योनियों में इतना ही अन्तर कि मनुष्य परमार्थ-पथ पर चल सकता है और वे कुछ भी नहीं कर सकते।

रायः कलत्रं पथवः सुतादयो
 गृहामही कुञ्जर कोष भूतयः ।
 सर्वेऽर्थकामाः क्षणभंगुरायुषः
 कुर्वन्ति मर्त्यस्य कियत्प्रियं चलाः ॥४४॥
 (७-७-४०)

धन, रुपी, पशु, पुत्रादि, घर, जमीन, हस्ती और उनके रहने के मकान तथा विभूतियाँ जीव को कितना आनन्द दे सकती हैं, क्योंकि ये सब तो चल और क्षणभंगुर हैं। अर्थात् क्षण भर में नष्ट होने वाले पदार्थ हैं, इसीलिये सर्वदा स्थिर नहीं रहते हैं।

इधर जीव के ऊपर काल का डंका बज रहा है और यह धोर निद्रा के वशीभूत हुआ बेहोश पड़ा है, ऐसी परिस्थिति में नित्य आनन्द स्वरूप तथा सुख-सागर भगवान् की भक्ति से ही जीव काल-पाश से निकल सकता है, और भगवान् को भी प्राप्त होता है। इसलिये अपार आनन्द चाहने वाले को चाहिये कि भगवद्भक्ति करे। कहा भी है—

“धनं हि पुरुषो लोके पुरुषं धनमेव वा ।
 अवश्यमेकं त्यजति तस्मात्किं धनतृष्णया ॥”

इस लोक में धन को पुरुष अथवा पुरुष को धन अवश्य ही छोड़ देता है। अतः धन को चाहना करने से कोई भी लाभ नहीं है।

एवं हि लोकाः क्रतुभिः कृता अमी
 क्षयिष्णवः सातिशया न निर्मलाः ।
 तस्माददृष्टश्रुतदूषणं परं
 भक्त्योक्त्येशं भजतात्मलब्धये ॥४५॥
 (७-७-४१)

इसी तरह—

‘अक्षयं हवै चातुर्मास्य याजिनः सुकृतं भवति’

चातुर्मास्य-याग-कर्त्ता को अक्षय-सुख प्राप्त होता है। इस श्रुतिवाक्य से विहित स्वर्गादिक लोक भी सेव्य (सेवा करने लायक) नहीं हैं, क्योंकि यज्ञादि कर्मों से प्राप्त, स्वर्गादि नाशवान् हैं और पुण्य में न्यूनादिक

होने से सुख भी अल्प और अधिक होता है तथा अपने से अधिक पुण्यवान् को देखकर दुःख होता है, अपने बराबर वाले को देखकर स्पर्धा (डाह) और अल्प पुण्यवान् को देखकर हर्ष होता है । तथा असुर-उपद्रवों से बलेश, और माया ममत्वादि दोषों से युक्त होने के कारण मतीन हैं । “तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यजितां लोकः क्षीयते” जिस तरह क्षेत्रादि कर्मों से प्राप्त यह लोक नष्ट हो जाता है, इसी तरह पुण्य से सम्पादित परलोकादि भी नष्ट हो जाते हैं (अक्षय शब्द का अर्थ प्रलय पर्यन्त समझना चाहिये । ‘आभूत सम्प्लवं स्थानममृत्वेन भाष्यते’ प्रलय तक रहने वाले स्थान को अमृत कहते हैं) अतएव आत्मरूप रत्न की प्राप्ति के लिये, जिसमें किसी प्रकार का दोष किसी ने न सुना हो और न किसी ने देखा हो, ऐसे श्रीहरि का ही नवधा-भक्ति से भजन करो, नहीं तो यह आत्म-रत्न स्वर्ग-नरकादि कीचड़ में फँसकर नष्ट हो जायगा ।

तस्मादर्थश्च कामाश्च धर्मश्चियदपाश्रयाः ।

भजतानीह्यात्मानमनीहं हरिमीश्वरम् ॥४६॥

(७-७-४६)

अर्थ, काम और धर्म जिसके आश्रित हैं, ऐसे अनीह और परमैश्वर्य-शाली श्रीहरि का, भोगेच्छा को त्यागकर भजन करो अर्थात् धर्मादि की प्राप्ति के लिए प्रयत्न नहीं करना चाहिये ।

पाठशाला के छात्रों को उपदेश करते हुए श्रीप्रह्लादजी से असुर बालक बोले—भगवद्भजन करने में तो ब्राह्मणादि का ही अधिकार है, हम दैत्य-वंशजों का उसमें कैसे अधिकार हो सकता है ? किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि भगवद्भजन में सबका अधिकार है ।

नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वाऽसुरात्मजाः ।

प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता ॥४७॥

(७-७-४७)

वर्णों में उत्तम वर्ण ब्राह्मण है, जाति में उत्तम देवता हैं, अतिन्द्रिय-पदार्थों को जानने वाले ऋषि हैं, सकल-शास्त्रवेत्ता बहुज्ञ कहलाते हैं । परम्परा से प्राप्त उत्तम चाल को चलने वाले सद्वृत्त होते हैं; किन्तु ब्राह्मणपन, देवत्व, अतिन्द्रिय-ज्ञान, बहुशास्त्रज्ञता, उत्तम चाल—ये भगवान्

को प्रशन्न करने में समर्थ नहीं हैं अर्थात् श्रेष्ठ कुल में जन्म होने से ही भगवसन्नता नहीं होती है ।

न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च ।

प्रीयतेऽमलया भवत्या हरिरन्यद्विडम्बनम् ॥४८॥

(७-८-५२)

योग्य पात्र में और अच्छे समय में धर्मोपार्जित धन का दान कृच्छ्र-चान्द्रायणादि व्रत, यज्ञ, शौच (पवित्रता) और तप—ये भी भगवान् को प्रसन्न नहीं कर सकते । और सब तो विडम्बना मात्र हैं । इससे यह निश्चय होता है कि ब्राह्मणादि वर्ण तथा दानी, तपस्वी, याज्ञिक, व्रती आदि रूप आत्मा के नहीं हैं, किन्तु जिस तरह अभिनयकर्ता वेशान्तर (अन्य वेश) से खेल करता है, इसी तरह ब्राह्मणादि रूप, जीव के कल्पित (बनावटी) वेश हैं । जीव का पारमार्थिक-स्वरूप भक्त है, इसीलिये इसको विडम्बना (नाच) नहीं कहा है, और कपट-रूप से भगवान् प्रसन्न नहीं होते—

“मोहि कपट छल-छिद्र न भावा ।

निर्मल मन सों नर मोहि पावा ॥

सरल स्वभाव न मन कुटिलाई ।

यथा लाभ संतोष सदाई ॥”

इसलिये जो जीव बाह्याढम्बर को छोड़कर निर्मल पवित्र चित्त से अर्थात् भीतर-बाहर से छल-छिद्र-रहित होकर भगवद्भजन करता है, भगवान् उसी पर प्रसन्न होते हैं ।

मन्येधनाभिजनरूप तपः श्रुतौज

स्तेजः प्रभाव बल पौरुष बुद्धियोगः ।

नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो

भवत्यातुतोष भगवान् गजयूथपाय ॥४९॥

(७-८-५३)

श्रीप्रह्लादजी बोले—मैं जानता हूँ कि धन, सुन्दर रूप, अभिजन (उत्तम कुल में जन्म), ओज (इन्द्रिय-निपुणता), तप, पांडित्य, कान्ति, प्रताप, शारीरिक-बल, पौरुष, बुद्धि, अष्टाङ्ग-योग, ज्ञान-योग, कर्म-योग ये

सब परम-पुरुष श्रीभगवान् के प्रसन्न करने में समर्थ नहीं हैं। क्योंकि सुना गया है कि उपर्युक्त सर्व-गुणों से हीन गजेन्द्र के ऊपर भगवान् प्रसन्न हो गये। और इसमें किसी युक्ति की भी आवश्यकता नहीं क्योंकि भगवान् का भक्ति से प्रसन्न होने का स्वभाव है, अथवा भक्ति में ही कोई ऐसी अद्भुत-शक्ति है, जिससे कि भगवान् को प्रसन्न होना पड़ता है, इसीलिये तो कहा है कि—

‘कौमार आचरेदिति’ अर्थात् पाँच वर्ष की अवस्था से ही भक्ति का आचरण करे। इस अवस्था में वर्णाश्रम-धर्म का भी अधिकार नहीं है।

चित्रं तवेहितमहोऽमित योगमाया

लीला विसृष्ट भुवनस्य विशारदस्य ।

सर्वात्मनः समदृशो विषमः स्वभावो

भक्तप्रियो यदसि कल्पतरुस्वभावः ॥५०॥

(६-२३-४)

प्रश्न—भगवान् अभिजनों को छोड़कर, गजेन्द्र के ऊपर ही क्यों प्रसन्न हुये?

उत्तर—भक्ति के वशवर्ती रहने का भगवान् का स्वभाव है। आपकी लीला अति ही विचित्र है। इसलिये कि आप, सृष्टि-कर्ता, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी और समदर्शी हैं। किन्तु हादिक स्नेह तो भक्तों पर ही रखते हैं। यहाँ पर यह शङ्खा हो सकती है कि भक्त-स्नेही भगवान् जब कि भक्तों पर ही अधिक प्रेम करते हैं तो भगवान् के स्वभाव में विषमता आ जाती है, और यह एक दोष ठहर जाता है। किन्तु भगवान् इस दोष से दूषित नहीं होते, वरं यह एक गुण ही कहा जाता है, क्योंकि जिस तरह कल्प-तरु अनाश्रितों की मनोभिलाषा को पूर्ण न कर स्व-आश्रितों के ही मनोरथों को पूर्ण करता है, इसी तरह आप भी अभक्तों पर प्रसन्न न होकर, भक्तों पर ही प्रसन्न होते हैं, विचार करने पर तो, आप में सम-दर्शीपन ही सिद्ध होता है। क्योंकि भक्ति-विहीन होने पर, यदि आप किसी के ऊपर प्रसन्न होते, अथवा द्वेष करते, तो विषमता की सम्भावना थी और आपने तो स्वयं भी कहा है—

“समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥”

मैं सबके लिये समान हूँ, मेरा कोई प्रिय तथा अप्रिय नहीं है । जो मेरी भक्ति करते हैं, वे मेरे हृदय हैं, और मैं उनका हृदय हूँ । इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् की प्रसन्नता में भक्ति ही (जिसमें कि सबका अधिकार है) कारण है ।

**स्वमातुः स्विन्नगात्राया विस्वस्तकवरस्तजः ।
दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्णं कृपयासीत्स्वबन्धने ॥५१॥**

(१०-८-१८)

श्रीकृष्ण ने जब देखा कि रसियों के जोड़ने में माता बहुत परिश्रम कर रही है, सम्पूर्ण शरीर में स्वेद-कण छाये हुये हैं, और शिक्षा का बन्धन खुल गया है, फूलों के गुच्छे चोटी से गिर रहे हैं इतना होने पर भी ‘आज कृष्ण को ऊखल से बाँध दूँगी’ इस हठ को नहीं छोड़ रही है, तब कृपा-क्रियाएँ का उदय हुआ और तत्काल बन्धन भी स्वीकार किया । इससे यह आया कि भगवान् भक्त के केवल प्रिय ही नहीं हैं, किन्तु उनके वशवर्ती भी रहते हैं ।

**एवं सदशिताह्यङ्गं हरिणा भक्त वश्यता ।
स्ववशेनापि कृष्णेन यस्येवं सेश्वरं वशे ॥५२॥**

(१०-८-१९)

हे अङ्ग ! क्रह्यादिक जिसके अनुचर हैं, और जो सर्व-स्वतन्त्र हैं, अर्थात् किसी के वश में नहीं हैं । उन श्रीकृष्ण ने भक्त-वश्यता, अर्थात् ‘मैं इस तरह भक्तों के अधीन हूँ कि भक्त मुझे बन्धन में भी डाल लेते हैं’ यह दिखाया ।

**नेभं विरञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्या ।
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत्प्राप विमुक्तिदात् ॥५३॥**

(१०-८-२०)

श्रीकृष्ण को बन्धन में डाल लेना, यह भगवत्-प्रसन्नता अतीव विचित्र है और इसको भक्त ही प्राप्त कर सकते हैं, जिस तरह कि माता

यशोदा ने प्राप्त किया । यद्यपि ब्रह्माजी भगवान् के पुत्र हैं और श्रीलक्ष्मीजी पत्नी हैं, तथा महादेवजी तो आत्मा ही हैं, तो भी ये सब भगवत् की उस भक्त-वश्यता (प्रसन्नता) को प्राप्त नहीं कर सके ।

नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिका सुतः* ।

ज्ञानीनाश्चात्म भूतानां यथाभक्तिमतामिह ॥५४॥

(१०-६-२१)

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि, परम कारणिक, पुत्र-ब्रह्मा तथा नित्य चरणसेविका-श्रीलक्ष्मीजी को छोड़कर, भगवान् माता पर ही क्यों प्रसन्न हुए ? यह पहिले कह आये हैं कि भगवान् का स्वभाव भक्त-वत्सल है, अर्थात् भक्ति के वशीभूत है । यह श्रीनन्दनन्दन, देहाभिमानी तपस्वी आदिकों को भी सुख से नहीं मिलता, तथा अहंकार-शून्य ज्ञानियों को सुख से नहीं मिलता 'यथा इह गोपिका सुतेभक्ति मतां सुखापः' जिस तरह कि गोपिका-सुत (भगवान्) में भक्ति करने वालों को सुख से मिलता है । अविवेकी पुरुष यह समझ लेते हैं कि ब्रह्माजी की कृपा से, धरा और द्रोण, यशोदा और नन्द हुए, किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि विचार करने से यह निर्णय होता है कि ब्रह्मप्रदत्त वर से साधन-सिद्ध धरा और द्रोण, नित्य-सिद्ध श्रीयशोदा तथा नन्द में लीन हो गये । भगवत् प्रसन्नता का महत्व, धरा और द्रोण को नहीं है, वरं श्रीयशोदा-नन्द को ही है । कारण यह है कि जो भक्ति ब्रह्माजी को भी प्राप्त नहीं है, उस (भगवान् को वश में करने वाली भक्ति) को, अन्य साधकों के लिये ब्रह्माजी कहाँ से दे सकते हैं ? क्योंकि शृगाली से सिंह का जन्म नितान्त असम्भव है । इसलिये उस पराभक्ति के अधिकारी श्रीनन्द-यशोदा आदि ही हो सकते हैं । ब्रह्मा, शिव, लक्ष्मी आदि सभी इन ब्रजवासियों की भक्ति-महिमा का गान करते हैं । 'तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यामिति' इस श्लोक से श्रीब्रह्माजी ब्रजवासियों की चरण-रज की अभिलाषा से ब्रज में वृक्षादि के जन्म की प्रार्थना करते हैं । तात्पर्य है कि जिस तरह 'अहं ब्रह्म' उपासना वाले ब्रह्म-सायुज्य को प्राप्त होते हैं, इसी तरह 'हम श्रीकृष्ण के माता-पिता होवें'

* गोपिका-सुत रूप से सब स्थिति, तथा गोपिका-सुत रूप से भजने वालों को गोपिका सुत की प्राप्ति दिखलाई ।

इस उपासना वाले भी माता-यशोदा तथा गिरा-नन्दजी में लीन हो जाते हैं।

किसी किसी का यह कहना है कि, भक्ति-शून्य केवल ज्ञान से संसार बन्धन तो टूट ही जायगा, भगवद्वर्णन की कोई भी आवश्यकता नहीं है, किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि—

श्रेयः सृतिं भवितमुदस्य ते विभो

क्षिश्यन्ति ये केवल बोधलब्धये ।

तेषामसौ वलेशल एव शिष्यते

नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥५६॥

(१०-१४-४)

भक्ति के बिना ज्ञान-प्राप्ति भी नहीं होती है। जिस तरह अन्न के निकाल लेने पर जो तुष (भुसी) मात्र अवशिष्ट रह जाती है और उसके कूटने वाले को केवल परिश्रम ही हाथ रह जाता है। इसी तरह अम्युदय तथा अपवर्ग स्वरूप स्रोत जिस भक्ति-सरोवर से बह रहे हैं, उस, आपकी आनन्ददायिनी-भक्ति को त्यागकर जो केवल ज्ञान के लिये प्रयास करते हैं, उनके लिये बलेश ही अवशिष्ट रह जाता है।

पुरेह भूमन् बहवोऽपि योगिन

स्त्वदपितेहा निजकर्मलब्धया ।

विबुद्ध्यभवत्यैव कथोपनीतया

प्रपेदिरेऽज्ञोऽच्युत ते गतिं पराम् ॥५७॥

(१०-१४-५)

भगवद्भक्ति से ही ज्ञान तथा भगवान् की प्राप्ति होती है, इसमें केवल शास्त्र ही प्रमाण नहीं हैं, किन्तु सत्पुरुषों का आचार भी प्रमाण है। यही दिखाते हैं—

हे भूमन् ! इस जगत् में पूर्वकाल में ऐसे बहुत से योगी हुए हैं कि जिन्होंने भक्ति को छोड़कर, ज्ञान प्राप्ति के लिये अनेकों प्रयत्न किए; किन्तु आपका ज्ञान प्राप्त न हुआ। इसके बाद वे आपकी भक्ति की ओर चले, और इन्द्रियों की सम्पूर्ण चेष्टाओं को तथा वर्ण-आश्रमादि के कर्मों को

आपको प्रसन्नता में लगा दिया । तब आपकी कथाओं के सुनने में अभिरुचि (आदर स्वरूप भक्ति) प्राप्त हुई । और आपके चरित्र-श्रवण से वह भक्ति आपके समीप आ पहुँची । अर्थात् रुचि पूर्वक आपकी कथा सुनने से आप में भी अनुराग हो जाता है और उस अनुराग-भक्ति से ही आपके ज्ञान को प्राप्त किया, तथा बिना प्रयास ही आपकी, पार्षद स्वरूप परम-गति को प्राप्त हुए ।

तस्मन्भवन्तावखिलात्महेतौ

नारायणे कारणमत्यमूर्तौ ।

भावं विधत्तो नितरां महात्मन्

किं बाऽवशिष्टं युवयोः स्वकृत्यम् ॥५६॥

(१०-१४-६)

जो भक्ति करता है उसने सब कर लिया, यही दिखाते हैं— जो सर्व-कारण, परब्रह्म है, वह ही है मूर्ति-शरीर जिसका अर्थात् जो कृष्ण वस्तु है, वह अचिन्त्य-शक्ति से शरीराकार है उस सबके अन्तर्यामी तथा कारण कृष्ण में, आप दोनों सदा-भाव (विचित्र अनुराग) करने वाले हैं, इसलिये अब आप दोनों को कोई भी करने लायक उत्तम कार्य शेष नहीं रहा है ।

दानव्रत तपो ह्येम जपस्वाध्यायसंयमः ।

श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भवितर्हि साध्यते ॥५७॥

(१०-१४-७)

दान, व्रत (नियम) कृच्छ्रचान्द्रायणादि तप, हवन, जप, वेदाभ्यास, सर्व इन्द्रियों का संयम और भी जो सांख्य, योग, ज्ञानादिक कल्याण के साधन हैं, उन सबका फल भक्ति है। इसलिये ठीक कहा है कि “स वै पुसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे” “जिस धर्म से भगवान् में भक्ति हो वह धर्म ही परम धर्म है ।” जब कि भक्ति ही सिद्ध हो गई तो दानादिकों के करने की क्या आवश्यकता है, जिस तरह कृप में जल के निकल आने से खोदना बन्द कर दिया जाता है, इसी तरह जब श्रीभगवान् की श्रवणादि भक्ति में रुचि प्राप्त हो गई तो दानादिकों के करने से क्या लाभ है ।

प्रश्न—तो क्या भक्त दानादिक नहीं करते हैं ?

उत्तर—सो नहीं, करते तो हैं, पर भक्ति के साधन रूप समझकर नहीं करते हैं, किन्तु दूसरे को दुखी देखकर हृदय की कोमलता से दान करते हैं। अथवा भगवान् के सब जीव दास हैं, इसलिये सब जीव मेरे कुटुम्बी हैं, ऐसा समझकर दान करते हैं, अर्थात् भक्ति से पहले साधन रूप थे, भक्ति प्राप्त होने पर दान-इन्द्रिय संयम, योग, ज्ञानादि स्वाभाविक हो जाते हैं, उनके लिये यत्न करना नहीं होता, यज्ञादिक तो भक्ति-विक्षेपक (भक्ति में विघ्न करने वाले) होने से स्वरूप से ही त्याग दिये जाते हैं ।

तावत्कर्मणि कुर्वीत न निविद्येत यावता ।

मत्कथा श्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥६०॥

(११-२-८)

जब तक स्वर्गादिक से वैराग्य नहीं होता है, तब तक कर्मों का आचरण करे अथवा जब तक मेरी कथा के श्रवणादिक में श्रद्धा न होवे, तब तक कर्मों का आचरण करे । अर्थात् जीव कथा के श्रवणादिक का आदर जब करने लग जाता है, तब कर्म करने की कोई भी आवश्यकता नहीं है; किन्तु भगवत् चरित्रादिक के श्रवणादिक का ही स्वाद लेना चाहिये ।

भक्ति से ही भक्ति होती है—इस पक्ष में कर्मादिक कारण नहीं हैं उस पक्ष से दानादिक का अर्थ आगे किया जायगा । आत्मज्ञानी लोग मायातीत होने पर भी जिस भक्ति की प्रार्थना करते हैं, तथा माया के वश में न होने वाले भगवान् भी जिस भक्ति के वश में हो जाते हैं तथा मायातीत वैकुण्ठ लोक में भी जिस धीभक्ति महारानों का राज्य है और माया को भी दूर करने वाली जो भक्ति है, वह मायामय नहीं है, क्योंकि अमायिक पदार्थ स्वरूप जो भक्ति है, उसकी प्राप्ति मायिक-कर्मों से कैसे हो सकती है ! भक्ति, चिदानन्दमय वस्तु है, इसी विषय को श्रुति भगवती भी कह रही है—

“भक्तिरेवैन नयति भक्तिरेवैन दर्शयति

भक्तिवशः पुरुषो भक्तिरेव भूषसीति ।

विज्ञान धनानन्दद्यता सच्चिदानन्दैकरणे

भक्तियोगे तिष्ठतीति ॥”

(गोपालतापिनी उपनिषद्)

भक्ति इस जीव को भगवान् के पास (धाम) में पहुँचाती है तथा जीव को भगवान् का दर्शन कराती है, क्योंकि पुरुष जो भगवान् हैं, वे भक्ति के बश में हैं, इसलिये भगवान् को बश करने वाले जितने भी साधन हैं, भक्ति सब में श्रेष्ठ है। मूर्तिमान विज्ञान तथा मूर्तिमान जो आनन्द है, वही भक्ति का स्वरूप है। सच्चिदानन्द स्वरूप जो एक भक्ति-रस है, उस भक्ति-रूप रस में श्रीकृष्णचन्द्र विराजमान रहते हैं।

यदि ईश्वराप्ति कर्मों से ही भक्ति की प्राप्ति को शास्त्र-प्रमाण से कहा जाय, तो वह अपर्ण भी बिना भक्ति मिले नहीं हो सकता है, इसलिये सत्सङ्गादि रूप भक्ति ही भक्ति का कारण है। भक्तों की जिस जीव पर कृपा होती है, उन्हीं को भक्ति प्राप्त होती है, क्योंकि भक्त स्वतन्त्र होते हैं।

इसी आशय को लेकर श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीजी ने भी इस तरह लिखा है कि—दानादिक साधनों का फल श्रीकृष्ण में भक्ति है। वे दानादिक ये हैं—विष्णु और वैष्णव के लिये दान एकादशी आदि व्रत, कृष्ण-प्राप्ति के लिये भोगों का त्याग तथा विष्णु-सम्बन्धी हवन, विष्णु-मन्त्रों का जप, कृष्ण-भक्ति-प्रतिपादक शास्त्रों का अभ्यास रूप स्वाध्याय। और भी जो कल्याण स्वरूप भक्ति के साधन हैं, उनका फल भक्ति अर्थात् प्रेम-भक्ति ही है।

व्येमाः स्त्रियो वनचरीर्द्यभिचारदुष्टाः

कृष्णे कृच्छ्रे परमात्मनि रुढभावः ।

नन्वीश्वरोनुभजतोऽविदुषोऽपि साक्षा

च्छ्रेयस्तनोत्यगदराज इवोपयुक्तः ॥६१॥

(१०-४७-६०)

भगवत्-अनुग्रह में जात्यादिक की अपेक्षा रहित अविद्वानों द्वारा की हुई भक्ति भी परम कारण है। वह भक्ति अपने आश्रय को सर्वपूज्य सर्वदुर्लभ कर देती है, यहीं दिखाते हैं—

ये स्त्री-जाति गोपिकायें वन में विचरने वाली हैं, तथा व्यभिचार-दोष से दुष्ट हैं, अर्थात् जाति, स्वभाव तथा आचार से निन्दित हैं, यह इस श्लोक से दिखलाया। तात्पर्य यह है कि गोपियाँ कृष्ण की ईश्वरता को नहीं जानती हैं, किन्तु 'वह नम्दकुमार परम सुन्दर भुवन-मोहन है' यह समझती हैं। श्रीकृष्ण की अलौकिक चित्ताकर्षक लावण्यता ने उन (गोपियों) को पति आदि की ओर से खींच लिया है। इतना होने पर भी वे गोपियाँ यही समझती हैं कि हमारा स्वभाव अच्छा नहीं है, क्योंकि हम पर-पुरुष में प्रीति करती हैं, यह उनके हृदय का भाव है।

अब विचारणीय-विषय यह है कि कहाँ वे वनचरी गोपियाँ, और कहाँ परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण में उनका सर्वोत्तम तथा अलौकिक प्रेम !

अहो ! निरस्तर भजन जो करते हैं, यद्यपि वे अविद्वान् भी क्यों न हों, भगवान् तो भी उनका कल्याण ही करते हैं। जिस तरह कि अनजाना पुरुष, यदि अमृत का पान कर जावे, तो भी अमृत उसके सर्व रोगों को नष्ट कर देता है। इसी तरह गोपियाँ चाहे परब्रह्म को न जानें, तो भी भगवान् के अनुग्रह से प्रेम-पराकाष्ठा में विराजमान हैं।

नायं श्रियोऽङ्गः उ नितान्त रतेः प्रसादः

स्वर्थेषितां नलिनगन्धरुचां कुतोन्याः ।

रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ

लद्धाशिषां य उद्गाद् व्रजसुन्दरीणाम् ॥६२॥

(१०-४७-६१)

इन श्रीकृष्ण की भुजाओं से रासोत्सव में जिनका कण्ठ ग्रहण किया गया है, उन गोपियों के सम्बन्ध में जो श्रीकृष्णचन्द्र की प्रसन्नता प्रकट हुई, वह प्रसन्नता पूर्ण प्रेम-स्वरूप श्रीलक्ष्मीजी तथा कमल सदृश गन्ध और कान्ति वाली वैकुण्ठ की स्त्रियों पर भी प्रकट न हुई। इसालये भगवान् एक प्रेम-भक्ति से ही प्रसन्न होते हैं।

आसामहोचरणरेण जुषामहंस्या

वृन्दावने किमपि गुलमलतौषधीनाम् ।

या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा

भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥६३॥

(१०-४९-६२)

भगवत् को प्राप्ति का उपाय-दोष भी गुण ही है, यह कहते हुए श्रीउद्धवजी बोले कि इन गोपियों की महिमा को तो रहने दीजिये, मैं तो इतनी ही प्रार्थना करता हूँ कि श्रीवृन्दावन में इन गोपियों की चरण-रज को प्राप्त करने वाली जो गुल्मलता (आदिक) औषधियाँ हैं, उन लता आदिकों में कोई भी जन्म मुझे मिल जाय, तो मैं अपने को कृतकृत्य समझूँगा । जो गोपियाँ दुस्त्यज अपने जन तथा धर्म को त्यागकर अर्थात् लोक-मर्यादा तथा वेद-मर्यादा को छोड़कर कृष्ण-प्राप्ति का सर्वोत्तम उपाय स्वरूप परम प्रेम को प्राप्त हो गई, ऐसे परम-पुरुषार्थ रूप उस भाव को श्रुतियाँ भी हूँढ़ती हैं अर्थात् निरन्तर खोज करतो रहती हैं ।

न ब्रह्मणः स्वपरभेदमतिस्तवस्या

त्सर्वात्मनः समदृशः स्वसुखानुभूतेः ।

संसेवतां सुरतरोरिव ते प्रसादः

सेवानुरूपमुदयोन विपर्ययोऽत्र ॥६४॥

(१०-७२-६)

भगवान् भक्ति के वशीभूत होते हैं या नहीं ? इसका निवारण श्रीयुधिष्ठिर-वाक्य से वर्णन करते हैं—

‘हे भगवन् !’ आप ब्रह्म हैं अर्थात् अवगुण-रहित सकल कल्याण-गुणों के सागर हैं । आपके हृदय में ‘यह मेरा और यह पराया है’ यह बुद्धि हो है, क्योंकि आप सबके रोम-रोम में व्याप रहे हैं । इसलिये सब आप में ही हैं, और आप सबको सम-हृष्टि से ही देखते हैं, तथा आप अपने असीम आनन्द में निमग्न रहते हैं; इसीलिये आप राग-द्वेषादि से रहित हैं, तो भी आपकी प्रसन्नता (अनुग्रहता) तो सेवा करने वालों पर ही विशेष कर होती है; किन्तु अनुग्रह भी सेवानुरूप ही होता है । फिर भी सेवक पर प्रसन्नता की कमी नहीं रहती है । जिस तरह कल्पवृक्ष रागादि दोषों से रहित होने पर भी सेवकों के ही मनोरथों को सिद्ध करता है, इसी तरह आप भी हैं ।

मयिभक्तिहिमूतानाममृतत्वाय कल्पते ।
दिष्ट्या यदासीन्मत्स्नेहो भवतीनां मदापनः ॥६५॥

(१०-८२-४४)

भगवान् भक्ति से पकड़े जाते हैं, इसमें भगवद्वाक्य ही प्रमाण है—

‘हे गोपियो !’ मुझमें की हुई नवधा-भक्ति से एक भी भक्ति जीवों के कल्याण करने की शक्ति रखती है अर्थात् अमृतपद को प्रदान करती है। आपका जो मुझमें प्रेम हुआ है, यह अत्यन्त सौभाग्य की बात है, क्योंकि यह ‘प्रेम मुझको खींच कर भक्त के हाथों में समर्पण कर देता है।

ये वे भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धये ।

अज्ञः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हितान् ॥६६॥
(११-२-३४)

ज्ञान-शास्त्र के अभ्यास बिना ज्ञान-प्राप्ति न होगी, तथा ज्ञान बिना मोक्ष भी न होगा ? ठीक है, किन्तु भक्ति में ज्ञान की आवश्यकता नहीं है, यह वेदव्यासजी के वचनों से कहते हैं—

जो भोले-भाले, सीधे साधे जन शास्त्र आदिक को नहीं जानते, वे अनायास (सुख-पूर्वक) ही मेरी प्राप्ति कर सकें, इस इच्छा से स्वयं श्री-भगवान ने अपने श्रीमुख-कमल से जो धर्म वर्णन किया है, वे ही भागवत धर्म हैं अर्थात् भक्ति धर्म हैं, ऐसा जानना चाहिये ।

यानास्थाय नरो राजन्न प्रमाद्येत कर्हित्रित ।

धावन्निष्ठोल्य वा नेत्रे नस्खलेन्नपतेदिह ॥६७॥
(११-२-३५)

हे राजन् ! जिन भक्ति धर्मों के आश्रय करने से विघ्न, भक्त के ऊपर कभी भी धावा नहीं कर सकते, क्योंकि इन भागवत धर्मों में आँख बन्द करके भी यदि भागे, तो भी विघ्न-स्वरूप स्खलन तथा पतन नहीं हो सकता, अर्थात् गिरने आदि का कोई भी भय नहीं है। यदि इस भक्ति-धर्म में शास्त्र-विहित किसी अज्ञ का अज्ञान से आचरण न हो, अथवा ज्ञान से भी किसी अज्ञ का परित्याग कर दे, तो भी साधक को पाप नहीं लगता है तथा फल से भी भ्रष्ट नहीं होता है ।

यहाँ पर—पैर रखने की जगह को छोड़कर दूसरी जगह पैर रख के

चलना, दौड़ना कहलाता है, इसी तरह भक्ति के किसी एक अङ्ग को छोड़ कर दूसरे अङ्ग के आचरण का नाम दौड़ना है।

विद्यमान नेत्रों को बन्द कर लेना निमीलन कहाता है, इसी तरह भक्ति के किसी अंग को जान-बूझ कर छोड़ देना ही निमीलन है।

पाप का आचरण ही स्खलन (ठोकर) लगता है, तथा फल का न होना ही पतन (गिरना) है।

कायेन वाचा मनसेन्द्रियेव॥

**बुद्ध्यात्मना वाऽनुसृतस्वभावात् ।
करोति यद्यत्सकलं परस्मै**

नारायणायेति समर्पयेत्तत् ॥६८॥

(११-२-३६)

प्रश्न—भागवत-धर्म कौन से हैं ?

उत्तर—भगवद्पित सर्वे कर्म भागवत-धर्म ही हैं। भागवत धर्मों में प्रवृत्त बुद्धिमान् पुरुष शरीर-सम्बन्धी कर्मों को भी भागवत-धर्म बना लेता है यही कहते हैं—शरीर, मन, वाणी, इन्द्रियों से तथा अनुसृत-स्वभाव जो ब्राह्मणत्वादि स्वभाव है, उससे जो-जो कर्म करे, उनको यदि भगवान् की प्रसन्नता के लिये किया जाय, तो वे भी भागवत-धर्म हो जाते हैं।

मल-मूत्र का त्याग, मुख-प्रक्षालन तथा स्नानादि और दर्शन, श्रवण सञ्चालनादि कर्म सांसारियों के संसारी-कार्यों के लिये होते हैं और भक्तों के ये कर्म भगवत्सेवा के लिये होते हैं।

हमारे में अनादि-काल से देहाध्यास के कारण जो ब्राह्मणत्वादि स्वभाव से वर्णाश्रम-सम्बन्धी कर्म हैं, वे भगवदर्पण होने से भागवत हो जाते हैं।

इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियम् ।

दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत्परस्मै निवेदनम् ॥६९॥

(११-३-२८)

अब प्रबुद्धि-वाक्य से निवेदन का वर्णन किया जाता है—

यज्ञ, दान, तप, जप, आचार और भी जो चम्दन-माला, खट्टे-मीठे, चरपरे भोग्य-पदार्थ तथा वस्त्र-भूषणादि जो भी अपनी प्रिय वस्तु हैं, उन सब को भगवान् के समर्पण करे । सब से प्रिय अपनी आत्मा है, उसको भी भगवान् का समझ कर सदा भगवान् की सेवा में लगावे, और खी, पुत्रादिकों को भी भगवान् का समझ कर भगवत्सेवा में लगाना सीखे ।

इस तरह की भक्ति से ज्ञान भी हो जायगा, इसलिये भक्ति से मोक्ष की भी सिद्धि बन जाती है ।

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्या

दीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः ।

तन्माययाऽतो बुधधाभजेत् ।

भवत्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा ॥७०॥

(११-२-३७)

भक्ति से मोक्ष में युक्ति का वर्णन करते हैं—

जिस कारण संसार-स्वरूप भय भगवान् की माया से होता है । इसलिये बुद्धिमान् पुरुष गुरु को परमेश्वर तथा परम-प्यारा समझ कर अनन्य-भक्ति से उस भगवान का ही भजन करे ।

प्रश्न—शरीर में अभिनिवेश से अर्थात् मैं ही शरीर हूँ, इस अभिनिवेश से भय होता है । देह में अहङ्कार ('मैं' ऐसी बुद्धि) से शरीर में अभिनिवेश होता है और अपने स्वरूप के प्रकाशित न होने से देह में अहं-बुद्धि होती है—इसमें माया क्या करती है ?

उत्तर—सो नहीं, किन्तु ईश्वर से जो विमुख है, उसको अपने रूप का भगवत् माया से प्रकाश नहीं होता है । स्वरूप के प्रकाशित न होने से 'मैं देह हूँ' यह बुद्धि हो जाती है । इस अहङ्कार से 'देह ही मैं हूँ' यह अभिनिवेश हो जाता है । इस देहाभिनिवेश से भय होता है, यही श्रीभगवान् ने भी कहा है कि—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।

मामेव ये प्रपञ्चन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

तात्पर्य यह है कि माया का स्वरूप त्रिगुणात्मक है, त्रिगुणात्मक जगत में माया से मोहित हुआ जीवात्मा अपने स्वरूप को नहीं पहचान पाता गीता में भी भगवान ने यही कहा है—

त्रिभिर्गुणमयैर्भाविरेभिः सर्वमिदं जगत् ।

मोहितं नाभि जानाति मामेभ्यः परमध्यम् ॥

गुणमयी माया के मोह जाल में फँसा जीव मेरे वास्तविक स्वरूप को नहीं पहचानता । “दैवी ह्येषा गुणमयी” का तात्पर्य भी यही है । भगवान ने यहाँ भी यही कहा है कि—मेरी गुणमयी माया का पार पाना अत्यन्त कठिन है, इसका पार वही पा सकता है जो मुझ अखिल ब्रह्माण्डनायक जगदीश्वर श्रीकृष्ण के शरण में आता है ।

वास्तव में अचिन्त्य महिमावाली प्रभुकी यह माया अत्यन्त ही दुस्तर है, इसी माया से मोहित होकर यह जीव संसार में नाना क्लेशों को भोग रहा है, इस सर्वसमर्था भगवतो देवी ने किसको नचाये बिना छोड़ा है, इसने बड़े-बड़े तपस्वी, ज्ञानी, योगी और सिद्धजनों को भी नचाया है, यह दैवी जीव को कितने रूपों में आकर्षित कर नचाती है—कोई कह नहीं सकता, गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है—

सो माया वश भयउ गुसाई । बन्ध्यौ कीर मरकट की नाई ।

माया का वास्तविक रूप क्या है, यह समझना चाहिये, माया के स्वरूप के सम्बन्ध में पद्मपुराणादि में उल्लेख मिलता है, कहा गया है—

माश्च मोहार्थवचनो याश्च प्रापण वाचकः ।

तं प्रापयति या नित्यं सा माया परिकीर्तिता ॥

अर्थात् ‘मा’ शब्द मोहार्थवाची है और ‘या’ शब्द प्राप्ति कराने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—अतः मोह को प्राप्त करानेवाली शक्ति का नाम माया है । नारद पञ्चरात्र में भी माया की व्याख्या की गई है—

मायां तु प्रकृतिं विद्धि मायिनं तु महेश्वरम् ।

अस्यावयवं भूतैर्स्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥

अर्थात् यह त्रिगुणमयी प्रकृति ही माया का रूप है, पूर्ण ब्रह्ममहेश्वर ही इस माया के विस्तारक हैं, वे ही अधिपति हैं । इससे यह सिद्ध है कि इस त्रिगुणरूपा नदी को पार करने के लिये मायापति माधव की शरण में जाना ही पड़ेगा, तभी इससे छुटकारा मिल सकता है, अन्यथा नहीं, भगवान की शरण में जाये बिना कोई योगी, ध्यानी, ज्ञानी, कर्मी, धर्मी माया को पार करना चाहे तो कठिन ही नहीं असम्भव भी है, श्रीमद् भागवत इसका स्पष्ट प्रमाण है—

येऽन्येरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन स्त्वध्यस्तभावादबिशुद्धबुद्धयः ।

आहृष्टा कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यथो नाहृत युस्मदड्यथः ॥

अर्थात् वे लोग जो अपने ज्ञान योगादि साधनों के द्वारा अपने को विमुक्त मानते हैं अतएव अभिमान के कारण जिनकी बुद्धि अशुद्ध हो गई है और आपके चरणों में जिनकी भक्ति नहीं है, वे जो आपके विषय में भाव-शून्य हैं, ऐसे लोग यदि महान कष्ट उठाकर क्लेशमयी साधना के द्वारा ऊँचे लोकों के पदों पर पहुँच भी जायें तो भी वे उस पद से नीचे गिर जाते हैं, क्योंकि उन्होंने आपके श्रीचरणों का अनादर किया है, इसके विपरीत जो आपके सीधे सच्चे भक्त हैं वे, तो—

तथा न ते माधव तावकाः कवचिद भ्रश्यन्ति मार्गात्विवद्वसौहृदाः ।

त्वयाभिगुप्ता । विचरति निर्भया विनायकानीकप मूर्धसु प्रभो ॥

अर्थात् हे मायाधिपति माधव ! उन कष्टदायक और अन्त में पतन-शील साधनाओं के विपरीत जिन आपके जनों ने आपके निर्भय सुखदायी चरणों में प्रीति जोड़ रखी है, वे आपके प्रिय भक्त कभी भी उन ज्ञान-भिमानियों की भाँति साधन मार्ग से भ्रष्ट होकर पतित नहीं होते, उनका अधः पतन होता ही नहीं, क्योंकि वे आपके द्वारा रक्षित हैं, अतएव विघ्नों के बड़े-बड़े सेनापतियों के सिर पर पैर रखकर वे भक्तजन निर्भय विचरते रहते हैं—क्योंकि उन्हें आपके चरणों का बल प्राप्त है ।

सिद्ध है कि माया को अन्य किसी साधन से नहीं जीता जा सकता, वह तो मायापति की कृपा से ही पार की जा सकती है, क्योंकि यह बलवती बड़े-बड़े ज्ञानी—ध्यानियों के चित्त को भी बलात् आकर्षित कर महा मोह के गर्त में फैंक देती है—

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवो भगवती हि सा ।

बलादाकृष्य मोहाय, महामाया प्रयच्छति ॥

‘गीता’ के ‘दैवी ह्येषा गुणमयी’ और ‘दुरत्यया’ इन चार विशेषणों के तात्पर्य पृथक्-पृथक् इस प्रकार हैं ।

‘एषा’ यह पद प्रत्यक्ष वस्तु का निर्देशक है और माया (प्रकृति) कार्य रूप में प्रत्यक्ष है, इससे यह समझता चाहिये कि जिस प्रकृति का वर्णन गीता के श्लोक—“त्रिभिर्गुणमयैभविरेभिः सर्वमिदं जगत्” में हुआ है, उसी को यहाँ माया नाम से बताया है, गुण और गुणों का कार्य रूप यह सारा जड़ हृश्य प्रपञ्च इस माया में ही है, इसी से माया को “गुणमयी” कहा गया है । यह माया बाजीगरों अथवा राक्षसों की माया की भाँति साधारण माया नहीं है, यह तो भगवान की अपनी अनन्य साधारण अत्यन्त विचित्र

शक्तिरूपा है, इसो से इसको “दैवी” कहा गया है। और अन्त में भगवान ने इस दैवी माया को मेरी (मम) कहकर तथा ‘दुरत्यया’ बताकर यह सूचित किया है कि एकमात्र मैं ही इसका स्वामी हूँ, अतः मेरी शरण में आये बिना कोई भी किसी भी उपाय से इस माया से सहज ही पार नहीं पा सकता, इसीलिये ये माया अत्यन्त दुस्तर है।

भगवान ने यह भी कहा है कि जो केवल मुझको ही निरन्तर भजते हैं—वे ही इस माया के पार जा सकते हैं, इसका तात्पर्य यह है कि जो एकमात्र भगवान को ही अपना परम आश्रय, परमगति, परमप्रिय और परमप्राप्य मानते हैं तथा सब कुछ भगवान का है तथा भगवान के लिये ही सब कुछ है—ऐसा समझकर जो अपने शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, गृह, कीर्ति आदि में से ममत्व और आसक्ति का त्याग करके, उन सबको भगवान की ही पूजा सामग्री बनाकर तथा भगवान के रचे हुए विधान में सदा सन्तुष्ट रह कर भगवान की आज्ञा के पालन में तत्पर और भगवान के स्मरण परायण होकर अपने को सब प्रकार से निरन्तर भगवान में ही लगाये रखते हैं, वे ही पुरुष निरन्तर भगवान का भजन करने वाले समझे जाते हैं, इसी का नाम अनन्य शरणागति है, इस प्रकार के शरणागत भक्त ही इस दैवी माया को सहज में पार कर लेते हैं।

कार्य और कारण रूपा अपरा प्रकृति का ही नाम माया है, मायापति परमेश्वर के शरणागत होकर उनकी कृपा से इस माया के रहस्य को पूर्ण रूप से जानकर इसके सम्बन्ध से सर्वथा छूट जाना और मायातीत परमेश्वर को प्राप्त कर लेना ही माया से तरना है, इसीलिये भगवान ने कहा है—कि हे अर्जुन ! मेरी माया का पार पाना बहुत ही कठिन है, किन्तु जो जन मेरी शरण में आ जाते हैं, उनके लिये माया सागर गो-खुर के समान बन जाता है।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने इस महा मोहिनी माया के सम्बन्ध में अपने रामचरितमानस में सुन्दर विचार किया है, माया के स्वरूप के संबंध में उन्होंने कहा है कि यह माया क्या है ? यह केवल ‘मैं’ ‘मेरा’ का एक जाल है, यह जीव इस जाल में उभल गया है, इस जाल की ऐसी गाँठ पड़ गयी है कि यह सुलभने में नहीं आती—

मैं अह मोर तोर तै माया, जेहि वश कीने जीव निकाया ॥

गो गोचर जहै लगि मन जाई, सो सब माया जानहु भाई ॥

X

X

X

जड़ चेतनहिं ग्रंथ परि गई, यदवि मृषा छूटत कठिनई ॥

तब ते जीव भयउ संसारी, ग्रंथि न हुऐ न होइ सुखारी ॥

माया का रूप भी बड़ा प्रचंड है, माया के साथ बड़े-सैनिक सुभट्ट-भट्ट रहते हैं, माया अपनी सम्पूर्ण सेना शक्ति द्वारा संसार में व्यापक है—

व्यापि रहेउ संसार महें, माया कपट प्रचंड ।

सेनापति कामादि भट्ट, दंभ कपट पाखंड ॥

सो माया सब जगहिं नचावा, जासु चरित लखि काहु न पावा ॥

मायावश मतिमंद अभागी, हृदय जवनिका बहु विधि लागी ॥

जिस माया ने सारे संसार को नचा रखा है, उससे कैसे बचा जा सकता है? इसका एकमात्र समाधान गीता में श्री भगवान ने स्वयं अपने मुख से किया है कि—जो मेरी शरण में आजायेगा, वही इस माया जाल से निकल सकता है, क्योंकि विद्या-अविद्या, माया और भक्ति दोनों ही प्रभु की शक्ति हैं, परन्तु एक दासी है, दूसरी महारानी है, माया यद्यपि दासी है, परन्तु विना प्रभु की कृपा से वह भी छूट नहीं सकती—

सो दासी रघुवीर की, समुझे मिथ्या सोपि ।

छूट न राम कृपा बिन, नाथ कहहुँ पद रोपि ॥

एक विवेचन और है, गोस्वामी तुलसीदास जी ने स्पष्ट कर दिया है कि माया और भक्ति दोनों खी जाति हैं, भक्ति—महारानी है और माया—नर्तकी है, भक्ति महारानी के आगे वेचारी नर्तकी माया मुँह छुपाकर भाग जाती है, इसीलिये बड़े-बड़े ज्ञानी विज्ञानी माया से छुटकारा पाने के लिये भक्ति का ही आश्रय लेते हैं—

माया भक्ति सुनहु तुम दोऊ, नारि वर्ग जानइ सब कोऊ ॥

पुनि रघुवीरहि भक्ति पियारी, माया खल नर्तकी विचारी ॥

भक्तिहि सानुकूल रघुराया, ताते तेहि डरपति अति माया ॥

रामभक्ति निरुपम निरुपाधी, बसइ जासु उर सदा अबाधी ॥

तेहि विलोकि माया सकुचाई, करिन सकइ कछु निज प्रभुताई ॥

अस विचार जे मुनि विज्ञानी, याचहि भक्ति सकल सुखखानी ॥

इस प्रकार यह सिद्ध है कि प्रभु की भक्ति का आश्रय लिये बिना संसार की माया का पार नहीं पाया जा सकता, अतः भगवान ने गीता में कहा—

“मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते”

अर्थात् मेरी माया दुस्तर है। जो मेरी शरण में आते हैं, वे इस माया को तरते हैं।

त्वां सेवतां सुरकृता बहवोऽन्तरायाः
स्वौको दिलङ्घ्य व्रजतां परमं पदं ते ।
नान्यस्य वहिषि वलीन्ददतः स्वभागान्
धत्ते पदं त्वमविता यदिविधनमूर्धन ॥७१॥

(११-४-१०)

भक्त तो विध्नकारियों के मस्तक पर पैर रख देते हैं, वही वर्णन करते हैं—

जो लोग यज्ञ में इन्द्रादिकों को भेंट करते हैं, उनके कार्य में इन्द्रादिक देवता विध्न नहीं करते हैं, किन्तु जो आपकी सेवा करते हैं, उनके ऊपर इन्द्रादिक देवताओं के द्वारा किये गये विध्न अधिक होते हैं, क्योंकि भक्त-जीव स्वर्गादिक लोकों को उल्लङ्घन करके आपके धाम में चले जायेंगे, इस बड़ाई को न सहकर देवता मात्सर्य (डाह) से विध्न करते हैं।

प्रश्न—तो क्या मेरा भक्त विध्नों के द्वारा अपने मार्ग से गिर जाता है ?

उत्तर—प्रभो ? ऐसा नहीं, क्योंकि आप अपने भक्तों की अवश्य रक्षा करते हैं। इसलिये आपके भक्त विध्न करने वालों के मस्तक पर पैर रखते हुए अर्थात् उनको सिड्धी (सोपान) समझ कर उनके शिर पर पैर रखते हुए आपके पास आते हैं। जिन मोक्ष-मार्ग में भगवान् रक्षा करने वाला नहीं है वे सब मोक्ष-मार्ग भगवदाश्रय से शून्य होने के कारण विध्नों से दूषित हैं। केवल भक्ति-मार्ग ही निविध्न-मार्ग है।

मुखवाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याध्मैः सह ।
चत्वारो जज्जिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक् ॥७२॥

(११-५-२)

भक्तों को मनोभिलिष्ट-फल प्राप्त होता है, यह कहकर अभक्तों की अधोगति दिखाते हैं, इसका आगे के श्लोक से सम्बन्ध है—

भगवान् के मुख, भुजा, जङ्घा और चरण, इनसे चारों वर्ण और आश्रम उत्पन्न हुए हैं।

सतोगुण से ब्राह्मण, सत्-रज से क्षत्रिय, रज तथा तमोगुण से वेश्य और तमोगुण से शूद्र उत्पन्न होते हैं, इस प्रकार गुणों से जीवों में स्वभाव द्वारा अन्तर है।

य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम् ।

न भजन्त्यवजानन्ति स्थानादभ्रष्टाः पतन्त्यधः ॥७३॥

(११-५-३)

जो जन इन चारों वर्णों के उत्पन्न करने वाले तथा पालन करने वाले भगवान् का भजन नहीं करते हैं तथा तिरस्कार करते हैं, वे गुरु द्वोही तथा कृतधन हैं। इसलिये वे अपने वर्णश्रिमादि उत्तम स्थान से गिर कर नीचे ही गिर जाते हैं। और जो भगवान् के ऐश्वर्य को नहीं जानते हैं, अतएव भजन नहीं करते हैं, उनका संसार-चक्र से न निकलना ही अधःपात है। और जो साक्षात् जान कर भी तिरस्कार करते हैं, उनका नरक में गिरना ही अधःपात है।

घोरे कलियुगे प्राप्ते सर्वं धर्मं विविजिताः ।

वासुदेवं परा मत्या ते कृतार्था न शंसयः ॥७४॥

विशेष कर तो कलियुग में भक्त ही कृतार्थ हैं, इसीको दिखाते हैं—

घोर कलियुग के प्राप्त होने पर जो प्राणी सर्व धर्मों से रहित हुए भी श्रीवासुदेव भगवान् का परमाश्रय करते हैं, वे कृतार्थ ही हैं, इसमें सन्देह नहीं है।

संसारं कूपे पतितं विषयैर्मुखितेक्षणाम् ।

ग्रस्तं कालाहि नात्मानं कोऽन्यस्त्रातुमिहेश्वरः ॥७५॥

(११-६-४०)

पिङ्गला के वाक्य से पूर्वोक्त विषय को पुष्ट करते हैं—

अब तो ब्रह्मादिकों के रहते हुए, मैं विष्ण से ही विहार करूँगी, क्योंकि यही मेरा निश्चय है। ऐसा क्यों? इसलिये कि जो संसार-कूप में गिरा हुआ है तथा विषयों में गिरा हुआ है तथा विषयों ने विवेक-रूप नेत्र जिसके हरण कर लिये हैं तथा कालस्वरूप-सर्प ने जिसको ग्रसित कर

रक्खा है, उस आत्मा को भगवान् से दूसरा, इस घोर कलियुग में कौन बचा सकता है अर्थात् कोई भी नहीं रक्षा कर सकता है।

वाध्यमानोऽपि मदभक्तो विषयैरजितेन्द्रियः ।

प्रायः प्रगल्भया भवत्या विषयैर्नाभिभूयते ॥६७॥

(११-१४-१५)

प्रश्न—क्यों जी ! विषय तो बड़े बलवान् हैं उन्होंने जिसको अन्धा कर दिया है, उसकी रक्षा कैसे होगी ?

उत्तर—क्षण-क्षण में बड़ी हुई भक्ति से ही रक्षा हो जावेगी । जिस भक्त की इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं, यदि वह विषयों से खींचा भी जा रहा है, तो भी विषयों से अभिभूत (पराजित) नहीं होता है, क्योंकि उसमें भक्ति-रूप पराक्रम स्थित है । जिस तरह युद्ध में यद-किंचित् शस्त्राधात होने पर भी वीर हारा हुआ नहीं माना जाता है, क्योंकि उसमें वीरता मौजूद है । इसी तरह धीरे-धीरे निरन्तर बढ़ रही भक्ति जिस भक्त में है, उसको विषय कभी भी पराजित नहीं कर सकते; परम-भक्त के विषय में तो कहना ही क्या है ।

पुश्चल्यपहृतं चित्तं कोऽन्यो मोचयितुं क्षमः ।

आत्मारामेश्वरमृते भगवन्तमधोक्षजम् ॥७७॥

(११-२६-१५)

जो भगवान्, स्त्री-लम्पट को भी मुक्त कर देते हैं, उन भगवान् के द्वारा अन्य विषयों में आसक्त जीव का उद्धार करना कोई बड़ी भारी बात नहीं है । यही कहते हैं—

जिस मनुष्य के चित्त को व्यभिचारिणी-स्त्री ने हरण कर लिया है, उस मनुष्य को आत्मारामों के ईश्वर अधोक्षज भगवान् के विना दूसरा कौन मुक्त कर सकता है ? अर्थात् भगवान् ही समर्थ हैं ।

भवत्योद्धवान् पाथिन्या सर्वलोक महेश्वरम् ।

सर्वोत्पत्यप्ययं ब्रह्म कारणं मो पयाति सः ॥७८॥

(११-१८-४५)

भगवान् की प्राप्ति में भक्ति-उपाय ही निश्चित है, इसी विषय को उद्धव के प्रति कहे भगवद्वाक्य से उ श्लोकों द्वारा वर्णन करते हैं—

हे उद्धव ! उस अव्यभिचारिणी-भक्ति से वह भक्त मेरे पास पहुँच जाता है। सबे लोकों के ईश्वर जो ब्रह्म हैं, मैं उनका भी ईश्वर हूँ तथा सब की उत्पत्ति और प्रलय का कारण हूँ और वेद का कारण भी मैं ही हूँ अथवा प्रकाश-रूप ब्रह्म का अधिष्ठान हूँ।

यथा॒ग्निः सु॒समिद्धाच्चः करोत्ये॒धांसि भस्मसात् ।

तथा॒मद्विष्या॒भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः ॥७८॥

(११-१४-१८)

भक्त को अन्य प्रायश्चित्त की भी कोई आवश्यकता नहीं है—

रसोई के लिये जलाई गई अग्नि सब लकड़ियों को जिस तरह भस्मसात् कर देती है, इसी तरह क्रोध लोभादि द्वारा भी की गई मेरी भक्ति, विषयाभिलाषादि सब पापों को नष्ट कर देती है, यह मेरी भक्ति की आश्रयमयी-महिमा है।

न साध्यति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ।

न स्वाध्यायस्तपरत्यागो यथाभक्तिर्मर्ममोर्जिता ॥८०॥

(११-१४-२०)

हे उद्धव ! जिस तरह भक्ति मुझ को वश में करती है, इस प्रकार योग, आत्म-ज्ञान, धर्म, वेद-पाठ तथा त्याग वश में नहीं कर सकते हैं, क्योंकि वह भक्ति योगादिक से ऊर्जित है अर्थात् श्रेष्ठ है।

भवत्याहमेक्या ग्राह्यः शद्व्यात्मा प्रियः सताम् ।

भक्तिः पुनाति मन्त्रिष्ठास्वपाकानपि सम्भवात् ॥८१॥

(११-१४-२१)

भक्ति सब को पवित्र करती है, इसलिये सब से उत्तम है, यही कहते हैं—

सत्पुरुषों का प्यारा आत्मा मैं, अत्यन्त श्रद्धावालों अकेली भक्ति से ही वशीभूत होता हूँ। मुझ में निष्ठावाली भक्ति चाण्डालों को भी जाति दोष से पवित्र कर लेती है। जिस भक्ति के करने से चाण्डाल जाति पवित्र हो जाती है, उस भक्ति के करने से कर्म-चाण्डाल भी पवित्र हो जाते हैं। इसमें तो कुछ सन्देह ही नहीं। जिस प्रारब्ध से चाण्डालादि जाति में जन्म मिला है, भक्ति उस प्रारब्ध को नष्ट कर देती है, इसलिये भक्ति प्रारब्ध हारिणी है।

धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता ।

मद्भूक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनातिहि ॥८२॥

(११-१४-२२)

भक्ति की सहायता से ही धर्मादिक पवित्र कर सकते हैं। भक्ति के बिना तो किंचित् पवित्रता को ही करते हैं—जिसका आत्मा मेरी प्रेम-भक्ति से रहित है, उसको सत्य तथा दया से युक्त धर्म और चित्त की एकाग्रता के सहित आत्मा-ज्ञान, अच्छी तरह पवित्र नहीं कर सकते हैं, अर्थात् ब्रह्मलोक से लेकर मोक्ष-पर्यन्त की वासनाओं को नहीं हटा सकते ।

कथं विना रोम हृष्ण द्रवता चेतसा विना ।

विनानन्दाश्रु कलयाशुद्धयेद भक्त्या विनाशयः ॥८३॥

(११-१४-२३)

प्रसंग-वश भक्ति के चिह्नों को दिखाते हुये भक्ति से ही पूर्णतया पवित्रता होती है, इसका भी निर्धारण करते हैं—रोमांच तथा आनन्दाश्रुओं के बिना चित्त का पिघलना कैसे जाना जासकता है और चित्त के पिघले बिना भक्ति की पहचान नहीं हो सकती है और ऐसी भक्ति के बिना मन शुद्ध नहीं हो सकता है ।

वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं

रुदस्यभीक्षणं हसति क्वचिच्च ।

विलज्ज उद्गायति नृत्यते च

मद्भक्ति युक्तो भुवनं पुनाति ॥८४॥

(११-१४-२४)

क्योंकि वाग् गद्गदादि भक्तियुक्त, भक्त सब लोक को पवित्र कर देता है इसलिये भक्ति अपने आश्रय को पवित्र कर देती है, इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं । प्रेम से जिसकी वाणी गद-गद हो जाती है, तथा विरहावस्था-भावना से तथा उत्कण्ठा रूप हेतु से जिसका चित्त पिघल जाता है तथा कभी रोता है और कभी हँसता है, कभी विलज्ज होकर ऊँचे स्वर से गान करता है तथा कभी नाचता है, यह प्रेम का स्वभाव है, इसी प्रकार की भक्ति वाला ही जगत् को पवित्र करता है ।

यथाग्निना हेममलं जहाति
 ध्यातं पुनः स्वं भजते च रूपम् ।
 आत्मा च कर्मनुशयं विद्युय
 मद्भक्तियोगेन भजत्यथो मासु ॥८५॥

यथा यथात्मा परिमूज्यतेऽसौ
 मत्पुण्यगाथा श्रवणाभिधानंः ।
 तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं
 चक्षुर्यथेवाञ्जन सम्प्रयुक्तम् ॥८६॥
 (११-१४-२५, २६)

मेरी भक्ति से ही आत्मा की शुद्धि होती है और किसी से भी नहीं, यही कहते हैं—

जिस तरह अग्नि में तपाया गया मुवर्ण अपने अन्तर के मैल को छोड़ देता है, और अपने निजी असली रूप को प्राप्त हो जाता है, इसी प्रकार जीव मेरी भक्ति के द्वारा कर्म-वासनाओं को नष्ट कर मेरे लोक में मेरी सेवा करता है। अञ्जनरच्छित चक्षु की भाँति आत्मा मेरी पुण्य कथाओं के श्रवण और कीर्तन के द्वारा जैसे-जैसे निर्मल हो जाता है, वैसे-वैसे सूक्ष्म वस्तु (प्रेम-भक्ति) को देख पाता है।

वरसेकं वृणेऽथापि पूर्णति कामाभिवर्षणात् ।
 भगवत्युत्तमां भक्ति तत्परेषु तथा त्वयि ॥८७॥
 (१२-१०-३४)

इसलिये परम चतुर भक्त भक्ति की ही प्रार्थना करते हैं। इस विषय में मार्कण्डेय-वाक्य प्रमाण है—

महादेवजी से कहा कि आप भक्तों की अभिलाषाओं को पूर्ण करने वाले हैं तथा स्वयं भी पूर्ण हैं, इसलिये मैं एक तो भगवान् में उत्तम-भक्ति को आपसे माँगता हूँ और भगवद्गुरुओं तथा आप में श्रेष्ठ भक्ति की याचना करता हूँ, इससे यह आप की भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है।

तथा परेचात्मसमाधियोग
बलेन जित्वा प्रकृति वरिष्ठाम् ।
त्वमेव धीराः पुरुषं विद्धन्ति
तेषां श्रमः स्थान्नतु सेवया ते ॥८८॥
(३-६-४७)

जब कि मोक्ष के बहुत से उपाय विद्यमान हैं तो भक्ति ही को श्रेष्ठ क्यों माना जाता है ? इसका उत्तर देव-वाक्य से देते हैं दूसरे योगी मन की एकाग्रता रूप योग के बल से दुर्जयमाया को जीतकर भक्ति को प्राप्त होते हैं, किन्तु उनको बलेश अधिक है, और आपकी सेवा से आपकी प्राप्ति में बलेश का गन्ध भी नहीं है । अन्तर इतना ही है कि भक्ति के बिना योगाभ्यास निष्फल है । निष्फलता न होवे इसलिये साथ ही साथ भक्ति भी की जावे तो गौरव है । जीव का मुक्ति देने में भक्ति किसी भी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं करती है, अतः भक्ति हो करनी चाहिये ।

अह्मचापृतार्त करस्ता निशि निःशयाना
नाना मनोरथधिया क्षणभग्ननिद्राः ।
दैवाहतार्थरचना ऋषियोऽपि देव
युष्मत्प्रसाद विमुखा इह संसरन्ति ॥८९॥

(३-६-१०)

प्रश्न—तो सब लोग भगवद्भक्ति को ही क्यों नहीं करते हैं ?

उत्तरः—विषयासक्त जीव जिस कारण से भगवान् को नहीं भजते हैं यह भूम्याजी के बचन से कहते हैं:—

आपकी भक्ति से विमुख ज्ञानी (शास्त्र-ज्ञानी) लोग भी इस संसार में ही कँस जाते हैं तथा जन्मते-मरते हैं किस तरह वे संसरण (संसार) को प्राप्त होते हैं ? दिवस में कार्य करने से इन्द्रिय तथा शरीर परिश्रमयुक्त होने के कारण (थक जाने के कारण) उनके हृदय में बलेश भर जाते हैं, इसलिये प्रगाढ़-निद्रा के वशीभूत होने से अचेत हाकर सो जाते हैं । अतएव उनको दिवस में भी विषयानन्द नहीं तथा रात्रि को भी विषय-सुख नहीं मिलता है । और बुद्धि में जो नाना प्रकार के मनोरथ भी हुये हैं उन मनोरथों के

द्वारा स्वप्न-दर्शन से क्षण-क्षण में निद्राभग्न हो जाती है और जिस व्यापार को अपने स्वार्थ से आरम्भ करते हैं, अभागे होने के कारण भाग्य उनको निष्फल कर देता है।

येऽभ्यथिता मयि च नो नुगति प्रपन्ना
ज्ञानं च तत्त्वं विषयं सहधर्मं यत्र ।
नाराधनं भगवतो वितरन्त्यमुस्य
संमोहिता विततयावत् मायया ते ॥८०॥

(३-१५-२४)

मोक्ष चाहने वाले तथा अन्य जो भगवान् को नहीं भजते हैं इसमें कारण बतलाते हैं—

जिस मनुष्य-जन्म में तत्त्व-ज्ञान के सहित धर्मोपार्जन का समय मिलता है तथा जिस मनुष्य-जन्म को हम देवता लोग भी चाहते हैं उस मनुष्य-जन्म को प्राप्त कर जीव भगवान् का भजन नहीं करते हैं वे भगवान् की विस्तृत माया ने अच्छी तरह भुला रखे हैं। अत्यन्त खेद की बात है कि दुर्लभ रत्न मानव जीवन को व्यर्थ खो देते हैं।

विश्वस्य यः स्थिति लयोऽद्वृव हेतुराद्यो
योगेश्वरं रपि दुरत्यययोगमायः ।
क्षेमं विधास्यति स नो भगवांस्त्यधीश
स्तत्रास्मदोय विमृशेन कियानिहार्थ ॥८१॥

(३-१६-३६)

प्रश्न—भक्ति के बिना माया नहीं जीती जा सकेगी और माया-मोहित जीवों से भक्ति का होना ही कठिन है तब निस्तार (कल्याण) कैसे होगा ?

उत्तर—भगवान की कृपा से ही उद्धार हो जावेगा यह श्रीब्रह्म वाक्य से कहते हैं—

जिसकी माया को योगेश भी नहीं तर सकते हैं और जो जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय करने वाला है वह त्रिगुणों का स्वामी तथा आदि पुरुष भगवान ही हमारा कल्याण करेगा ‘माया दुस्तर है भक्ति कैसे

होगी' इत्यादि हमारे विचारों से क्या लाभ है। यदि भगवान् अत्पशक्ति-शाली होते तो हमारा विचार करना भी ठीक था। इसलिये सर्व विचारों को छोड़ कर निर्भय हो भक्ति ही करनी चाहिये।

यदा यस्यानुगृह्णाति भगवानात्म भावितः ।
स जहाति मर्ति लोके वेदे च परिनिष्ठिताम् ॥६२॥

(४-२८-४६)

पूर्व श्लोक के कथनानुसार अभिमान को छोड़कर जो भगवान की प्रार्थना करता है, भगवान उसके ऊपर ऐसा अनुग्रह करते हैं जिससे उस (भक्त) के हृदय में भक्ति उत्पन्न हो जाती है। यह श्री नारद वाक्य से कहते हैं—

महत्पुरुषों के द्वारा श्रवणादि से शुद्धचित्त में ध्यान किया गया भगवान जब जिसके ऊपर अनुग्रह करता है तब वह लौकिक व्यवहार में तथा कर्म-मार्ग में अत्यन्त निष्ठावाली बुद्धि को छोड़ देता है अर्थात् इस प्रकार का भक्त सब को छोड़ कर श्रवणादि से ही भगवान को भजता है।

श्री यमनुचरतीं तदर्थिनश्चद्विपद पतीन् विवृधांश्च यः स्वपूर्णः ।
नभजति निजभृत्यवर्गतन्त्रः कथममुमुद्विसृजेत्पुमान् रसज्ञः ॥६३॥

(४-२१-२३)

भगवान् भक्तों के वश में हैं इसलिये भजन अवश्य ही करना चाहिये।

सर्वदा मन के अनुकूल चलने वाली लक्ष्मीजी तथा उस लक्ष्मी को चाहने वाले राजा और देवता, इनके मन के अनुसार भगवान् वत्तर्वि नहीं करते हैं क्योंकि भगवान् स्वपरमानन्द में पूर्ण होने से निष्काम है। इतना होते हुये भी अपने भक्तों के अधीन हैं। प्रेमरसास्वादी भक्त ऐसे भगवान को कैसे छोड़ सकता है।

भगवान् पत्नी होने से लक्ष्मी के तथा राजा होने से राजाओं के तथा देवता होने से देवताओं के वशवर्ती नहीं हैं, किन्तु भक्त होने से ही लक्ष्मी आदि के अधीन हैं।

राजन्पतिर्गुरुरलं भवतां यद्वनां
 दैवं प्रियः कुलपतिः व्ह च किञ्च्चरो वः ।
 अस्त्वेवमङ्ग भगवान् भजतां मुकुन्दो
 मुक्ति ददाति कहिचित्स्म न भक्तियोगम् ॥८४॥
 (५-६-१८)

भगवान् भक्ति के ही वश में हैं; यह वर्णन करते हुए भक्ति की दुर्लभता को दिखाते हैं—

राजन् ! मुकुन्द भगवान् तुम्हारे और यदु-वंश के रक्षक, गुरु, उपास्य देव, सुहृत, कुल-पालक एवं कभी दूतादि कार्यों में किंकर भी बने । भगवान् ने तुम पर प्रसन्न होकर ये सभी कार्य किये और जो उनको भजता है, उसको मुक्ति भी देते हैं, किंतु भक्ति-योग किसी विरले ही को देते हैं अर्थात् भगवान् की कृपा बिना दूसरे अनेकों साधनों से भी भक्ति का मिलना कठिन है ।

सध्रीचीनो ह्ययं लोके पन्थाः क्षेमोऽकुतोभयः ।
 सुशीलाः साधवो यत्र नारायण परायणाः ॥८५॥
 (६-१-१७)

यह भक्ति—मार्ग सब से उत्तम मार्ग है, क्योंकि इसमें किसी प्रकार का भय नहीं है, तथा आनन्द-स्वरूप है । नारायण-परायण जिस मार्ग में विचरण करते हैं, वह ही उत्तम मार्ग है ।

ते देव सिद्धं परिगीतं पवित्रं गाथा
 ये साधवः समदृशो भगवत्प्रसन्नाः ।
 तान्नोपसीदत त्वरेगदयाभिगुप्ता
 न्नैषां वयं न च वयः प्रभवाम दण्डे ॥८६॥
 (६-३-२७)

भक्ति करने वालों को कहीं से भी भय नहीं है, यह यम-वाक्य से दिखाते हैं—

जो समदर्शी-साधु भगवान् के शरणागत हैं, जिनके पवित्र-चरित्रों को

देवता तथा सिद्ध गायत करते हैं। दूतो ! उनके समीप कभी नहीं जाना, क्योंकि हरि की गदा सर्वत्र उनकी रक्षा करती है। उनके दण्ड देने में मैं (यमराज) तथा काल भी समर्थ नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि जिस भक्ति में यम और काल से भी भय नहीं है, उसमें अन्य (दूसरे) से भय कैसे हो सकता है।

न तस्य कश्चिद्दितः सुहृत्तमो
न वा प्रिया द्वेष्य उपेक्ष्य एव वा ।
तथापि भक्तान् भजते यथा तथा
सुरद्रुमो यद्बुपाश्चितोर्थदः ॥८७॥

(१०-३८-२२)

प्रश्न—भक्तों की रक्षा करने से भगवान् में विषमता आ जावेगी ?

उत्तर—नहीं, यद्यपि भगवान् का कोई दियत तथा सुहृत्तम एव अप्रिय और अपेक्षा का विषय नहीं है तथापि भक्त जिस भाव से भगवान् को भजते हैं, भगवान् भी उसी तरह उनको भजते हैं अर्थात् भक्ति के सम्बन्ध से दियत आदिक सभी हैं और विना भक्ति के कोई भी दियत तथा अप्रिय नहीं हैं। कल्पवृक्ष, स्वाश्रितों के ही मनोरथों को पूर्ण करता है, इससे कल्पवृक्ष में विषमता नहीं आती है, इसी तरह भगवान् में भी समझना चाहिये ।

अपने गुण से प्रीति का विषय दियत है। अपने दोष से अप्रीति का विषय अप्रिय है। उपकार रूप निमित्त से प्रत्युपकार का विषय सुहृत्तम है। अपकारकारी होने से द्वेष का विषय द्वेष्य है। भक्ति-सम्बन्ध से हिरण्यकशिपु द्वेष्य का विषय है, और दुर्वासा उपेक्षा का विषय है।

केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगा मृगाः ।
येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीपुरञ्ज्ञसा ॥८८॥

(१०-१२-८)

भगवान् भक्तों की ही रक्षा करते हैं, इसमें प्रमाण—

सत्सङ्ग से प्राप्त केवल प्रीति से ही गोपी, गौ, ब्रज के वृक्ष तथा मृग,

और भा जो मूढ़-बुद्धि वाले कालिय आदिक सर्प हैं, ये सभी सुख से मुझको प्राप्त हुए। इसलिये ठीक कहा है कि—‘तेषां श्रमः स्यान्नतु सेवयति’ अभक्तों को ही संसार के तरने में परिश्रम पड़ता है, सेवकों को नहीं।

भजन्ति ये विष्णुमनन्य चेतस

स्तथैव तत्कर्मं परायणाः पराः ।

विनष्ट रागादि विमत्सरा नरा

स्तरन्ति संसार समुद्रमश्रमम् ॥८८॥

अश्रम की दिखाते हैं—जो लोग भगवत्प्रसन्नता के लिये कर्म करते हुए राग-द्वेष, मद-मात्सर्यादि दोषों से रहित होकर अनन्य चित्त से विष्णु का भजन करते हैं, वे संन्यास योगादि परिश्रम के बिना ही संसार-सागर को तर जाते हैं।

नैष्कर्म्यमध्यच्छ्युत भाव वजितं

न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ।

कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे

न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम् ॥१००॥

(१-५-१२)

भगवद्भक्ति से हीन कर्म बन्धनरूप ही है, यह केमुतिकन्याय से दिखाते हैं—

उपाधि को निवृत्त (नष्ट) करने वाला ज्ञान भी यदि भक्ति से रहित है, तो वह शोभा को प्राप्त नहीं होता है अर्थात् साक्षात् रूपता को प्राप्त नहीं होता है, तो फिर साधन-काल तथा फल-काल में दुःख-रूप जो सकाम कर्म तथा भगवान् में अनपित निष्काम-कर्म भी भक्ति-रहित होने से शोभा को कैसे पा सकता है, अर्थात् भक्ति-रहित होने से हृदय को पवित्र नहीं कर सकता है।

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्थाश्चाप्युरुक्मे ।

कुर्वन्त्यहैतुकों भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः ॥१०१॥

(१-७-१०)

इस प्रकरण से यह दिखाया कि भक्ति निरपेक्ष—साधन है। अब मोक्ष से भक्ति में जो श्रेष्ठता है, उसको दृढ़ करते हैं—

आत्मा में रमण करने वाले जो मुक्त मुनि हैं, वे भी हृदय-ग्रन्थी से रहित होकर भी बाल गोपाल श्रीहरि की भक्ति करते हैं, क्योंकि भगवान् के गुण ही ऐसे हैं, जो कि मुक्तों को खींच कर भक्ति में लगा देते हैं। आत्मानन्द ही मोक्ष का आनन्द है। उससे अधिक भक्ति में तथा गुणों में आनन्द है। जीव आनन्द का लोभी है, जिस तरफ अधिक आनन्द मिलता है, उसी तरफ खिंच जाता है। यहाँ पर ज्ञानियों से भक्ति कराने वाले भगवान् के परमानन्द-रूप 'गुण' हैं। इसीलिये ज्ञानी-जन गुणों के विचित्र स्वाद को पा कर, भगवान् की विचित्र स्वाद-वाली भक्ति में ही निमग्न हो जाते हैं।

न नाक पृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
समञ्जस त्वा विरहयकाङ्क्षे ॥१०२॥

(५-११-२४)

इसी तरह "सर्व पुरुषार्थों से भक्ति उत्तम है", यही वृत्रासुर के वाक्य से कहते हैं—

हे सकल सौभाग्यों के निधि भगवन् ! आपको छोड़ कर अर्थात् आपकी भक्ति को त्याग कर सकल पृथ्वी का राज्य तथा रसातल का आधिपत्य और स्वर्ग का राज्य, ब्रह्म-लोक का स्वामीपन, अणिमादि योगसिद्धियाँ तथा मोक्ष आदि किसी को भी नहीं चाहता हूँ।

तस्मान्मद्भक्ति युक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः ।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ॥१०३॥

(११-२०-३१)

भक्ति की निरपेक्षता में भगवद्वाक्य प्रमाण है—

ज्ञान-वैराग्य स्वयं ही भक्ति की महिमा से भक्त के हृदय में प्रकट हो जाते हैं, इस कारण जिस भक्त का मन मेरे में लग रहा है, उस मेरी भक्ति के आचरण करने वाले भक्त को कल्याण के लिये ज्ञान-वैराग्य का अभ्यास

न करना चाहिये । और कर्म का आचरण कल्याण के लिये न किया जाय, तो कहना ही क्या है ।

यत्कर्मभिर्यत्पसा ज्ञान वैराग्यतश्चयत् ।

योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि ॥१०४॥

सब मद्भवितयोगेन मद्भक्तो लभतेऽङ्गसा ।

स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथंचिद्यपि वांछति ॥१०५॥

(११-२०-३२-३३)

भक्त को ज्ञान-वैराग्य कर्मादिक का आचरण करने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि भक्ति ही सर्व साधनों द्वारा सिद्ध करने योग्य कार्य को सिद्ध कर देगी, वही कहते हैं—

ज्ञान, वैराग्य, तप, योग, दान, धर्म और भी जो तीर्थवासादिक हरि की प्राप्ति के उपाय हैं, उनमें से जो फल परिश्रम से प्राप्त होता है, उन सब फलों को मेरा भक्त मेरो भक्ति से ही बिना श्रम के प्राप्त कर लेता है । मेरा भक्त उन फलों की चाहना नहीं करता है । यदि किसी प्रकार चाहे तो स्वर्ग मोक्ष, तथा मेरे धाम को प्राप्त कर लेता है अर्थात् कर्मादिकों के फलों को अकेली भक्ति ही सिद्ध कर देती है और भक्ति के फल को कर्मादिक मिल कर भी सिद्ध नहीं कर सकते हैं, इसलिये भक्ति महारानी की भाँति है, अतः इसी का आश्रय ग्रहण करना चाहिये ।

न किंचित्साध्वो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम ।

वांछन्त्यपि मयादत्तं कैवल्यमपुनर्भवम् ॥१०६॥

(११-२०-३४)

भक्त कुछ भी नहीं चाहते हैं, इसको स्पष्टतया कहते हैं—

मेरे बुद्धिमान् भक्त निष्काम होने के कारण कुछ भी नहीं चाहते हैं, क्योंकि मेरे में प्रीति होने से एकान्ती हैं, इसीलिये यदि मैं भी उनको अपुन-भंव (पुनर्जन्म से रहित) कैवल मोक्ष देता हूँ, वे नहीं लेते हैं । प्रीति का यह स्वभाव है कि अपने प्यारे के बिना उसको कोई भी वस्तु अच्छी नहीं लगती है ।

नैरपेक्षयं परं प्राहुनिःश्रेयज्ञमनल्पकम् ।
तस्मान्निराशिषो भवितनिरपेक्षस्य मे भवेत् ॥१०७॥

(१०-२०-३५)

निरपेक्षता का वर्णन करते हैं—

अन्य फलों की तथा साधनों की चाहना न करना ही सर्व-श्रेष्ठ तथा पूर्ण कल्याण का साधन है और कल्याण-स्वरूप है। इसलिये जो अन्य पदार्थों की सृष्टि-प्रार्थना नहीं करता है, तथा प्रार्थना का कारण अपेक्षा (चाहना) से रहित है, उसी की मुझ में प्रेम-भक्ति होती है। तात्पर्य यह है कि मैं भी निरपेक्ष हूँ अर्थात् भक्ति बिना सर्व कामनाओं से रहित हूँ और मेरी भक्ति भी सब इच्छाओं से रहित भक्त को ही मिलती है।

न मय्येकान्तं भक्तानां गुणदोषोदभवा गुणाः ।
साधूनां समचित्तानां बुद्धेः परमुपेयुषाम् ॥१०८॥

(११-२०-३६)

जो स्वर्ग, नर्क, मोक्षादि में सम-बुद्धि रखते हैं तथा बुद्धि से मेरे स्वरूप के जानने वाले हैं, उन मेरे एकान्त भक्तों में भूल से किये गए विहित प्रतिषिद्ध कर्मों से उत्पन्न होने वाले पुण्य-पापों का स्पर्श नहीं होता है।

कर्तव्य-कर्म को विहित कर्म कहते हैं और अकर्तव्य-कर्म को प्रतिसिद्ध कर्म कहते हैं। इससे यह आया कि भक्ति-मार्ग में सिद्धों को गुण (पुण्य) दोष (पाप) का स्पर्श नहीं होता है।

एवमेतान्मयादिष्टाननु तिष्ठन्ति मे पथः ।
क्षेमं विन्दन्ति मत्स्थानं यद्ब्रह्म परमं विदुः ॥१०९॥

(११-२-३७)

मेरे कथनानुसार जो मेरी प्राप्ति के उपाय स्वरूप निष्काम-कर्म, ज्ञान तथा भक्ति-मार्गों का सेवन करते हैं, वे कालमायादि से रहित मेरे धाम को प्राप्त होते हैं और जो सामान्य प्रकाश-रूपब्रह्म है, उसको भी जान जाते हैं।

अर्थात् जो मेरे कहने के अनुसार मेरी विष्णुद्ध-स्वरूपा प्रेम-भक्ति को करते हैं, उनको सब सुलभ है और मैं तो स्वयं ही उन्हीं का हूँ, यह निष्कर्ष है।

अतः सर्वदा सब काल में सब तरह से भगवद्भक्ति करना जीव का एक मात्र धर्म है।

श्रीमत्पुरुषोत्तम जगदीश्वर श्री जगन्नाथ जी के श्रीचरण-कमल की कृपा-रूप मकरन्द से प्रकट हुआ है विवेक जिनके हृदय में, उन तिरोहित देशोपन्न परमहंस श्री विष्णुपुरी जी के द्वारा गूँथी गई भागवत-सागर से प्राप्त 'श्रीभक्ति-रत्नावली' में भवित महिमा का सामान्य रूप से वर्णन करने वाला यह प्रथम विरचन है।

॥ 'भक्ति-महिमा-निरूपण' का प्रथम-विचरन समाप्त ॥



सत्संग-भक्तिभाव



द्वितीय—विरचन में भक्ति के कारण—सत्सङ्ग का निरूपण किया जाता है। भक्ति की प्राप्ति में भगवत्करण-रूप कल्प-लता का फल सत्संग ही प्रधान कारण है।

‘सत्त विशुद्ध भिलौ पै तेही । चितवर्हि राम कृपा कर जेही ॥’

यही श्रीमद्भागवत का अभिप्राय है। इसलिये पहले श्रीकपिल वचन से उसी को दिखात हैं—

सतां प्रसङ्गान्ममवीर्यं संविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः ।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्तमनि
शद्वारतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥१॥

(३-२५-२४)

सत्पुरुषों के स्थानों में मेरी कथायें होती ही रहती हैं अर्थात् सत्पुरुषों का यह स्वभाव ही है कि मेरे चरित्रों को अत्यन्त प्रीति से कहा ही करते हैं, उन कथाओं के कहने से मेरे पराक्रम का ज्ञान होता है तथा श्रवण करने से कर्णों को आनन्द देती है और अर्थ के विचार से हृदय को सुखी करती है, जो लोग सत्पुरुषों का उत्तम-सङ्ग करके उन कथाओं का स्वाद लेते हैं—

मोक्ष है मार्ग में जिनके ऐसे भगवान् में उन कथा-स्वादिष्यों को शद्वा (विश्वास) रति (भाव) भक्ति (प्रेम-भक्ति) ये सब अनुक्रम से प्राप्त हो जाते हैं।

सत्सेवयाऽदीर्घयापि जाता भयि हृढामतिः ।
हित्वावद्यमिमं लोकं गन्ता मज्जनतामसि ॥२॥

(१-६-२४)

अधिक सत्सङ्ग ही भक्ति का कारण हो यह बात नहीं किन्तु थोड़ा सा भी सत्सङ्ग भक्ति-प्रदान करता है। यही श्रीनारद के प्रति कहो गई भगवद्-वाणी से दिखाते हैं—

नारद ! अल्पकाल पर्यन्त की गई सत्पुरुषों की सेवा के प्रभाव से मुझमें तेरी हृढ़-भक्ति होगई है। अतः अब इस निन्दित दासी-पुत्र शरीर को छोड़कर मेरे पाषंद रूप शरीर को प्राप्त होवोगे अर्थात् दिव्य नारद रूप से मेरे पाषंद हो जाओगे ।

तुलयामलवेनापि न स्वर्गं ना पुनर्भवम् ।
भगवत्सङ्गः संगस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥३॥

(४-३०-३४)

अल्प सत्सङ्ग भी संसार से तरा देता है इसलिये स्वर्गादिक से भी श्रेष्ठ है—यही कहते हैं—

अत्यन्त अल्प काल पर्यन्त किया गया जो भगवद्भक्तों का सङ्ग है उसके समान स्वर्ग तथा मोक्ष भी नहीं है क्योंकि स्वर्ग तथा मोक्ष से अनन्त गुण अधिक स्वाद युक्त भगवद् के नाम, रूप, गुण, लीलाओं का सत्सङ्ग में स्वाद प्राप्त होता है स्वर्गादि में वह स्वाद नहीं है। जबकि स्वर्ग तथा मोक्ष ही सत्सङ्ग के तुल्य नहीं है तो मनुष्यों के अतिरुच्छ राज्यादि सत्सङ्ग के समान कैसे हो सकते हैं इसलिये सत्सङ्ग ही सर्वश्रेष्ठ है ।

यत्पाद संश्रयाः सूत मनुष्याः प्रशमायनाः ।
सद्यः पुनर्न्त्युपस्पृष्टाः स्वर्धुन्यापोऽनुसेवया ॥४॥

(१-१-१५)

सत्सङ्ग की श्रेष्ठता का कारण दिखाते हैं—

हे सूत ! जो मुनि लोग भगवान् के चरण-कमलों का अच्छी तरह आश्रय करते हैं तथा भगवान् में निष्ठावाली बुद्धि के आश्रय हैं वे अपने सेवकों की भक्ति में विघ्न-कारक पापों को शीघ्र ही नष्ट कर देते हैं। गगा-

जल भगवत्-चरण का सन्बन्धी होने से पवित्र तो कर देता है, किन्तु बहुत काल पर्यन्त तथा मर्यादा से सेवन करने से ही पवित्र करता है और संत तो शीघ्र ही पवित्र करते हैं क्योंकि उनके हृदय में परम पवित्र भगवान् विराजमान हैं इससे सत्पुरुषों का महत्व (बड़प्पन) दिखाया। और कहा भी है—‘तत्सेवयाऽदीर्घ्यापि’ अल्पकाल तक भी सत्पुरुषों की सेवा से तू मेरा पार्षद होगा, सत्सङ्ग को प्राप्ति महत्पुण्यों से होती है।

नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया ।

भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नेष्ठिकी ॥५॥

(१-२-१८)

सत्सङ्ग सर्वदा ही विष्णु-भक्ति का देने वाला है इस विषय में कोई यह शङ्का करे कि—सर्वदा सत्सङ्ग करने से भक्ति नहीं मिलती है। उसका निराकरण करते हैं—

नित्य प्रति भक्तों की सेवा करने से अभक्त स्वभाव-प्रयुक्त जो पाप हैं प्रायः उनके नष्ट होने पर उत्तमश्लोक भगवान् में अचल भक्ति हो जाती है इसलिये ‘सत्सेवयाऽदीर्घ्यापि’ यह ठीक ही कहा है।

अहो वयं जन्मभृतोऽद्य हास्म

वृद्धानुवृत्यापि विलोमजाताः ।

दौष्ट्कुल्यमाधिं विधुनोति शीघ्रं

महत्तमानामभिधानयोगः ॥६॥

(१-१८-१८)

यह सत्सङ्ग अधम जीवों को भी उच्च शिखर पर पहुँचाता है यही कहते हैं—

अहो ! महद आश्र्य है। यद्यपि हम प्रतिलोमज होने से अधम हैं तथापि आज श्रोशुकदेवादिक वृद्ध-सत्पुरुषों के आदर से सफल जन्म वाले हो गये हैं। इससे यह जाना जाता है कि महत्पुरुषों के साथ साधारण वार्ता का सम्बन्ध भी दुष्टकुल को तथा दुष्ट-कुल से उत्पन्न मन की ग्लानि को दूर कर देता है।

येषां संस्मरणात्पुंषां सद्यः शुद्धचन्ति वै गृहाः ।
किं पुनर्दर्शनस्पर्शपादशौचासनादिभिः ॥७॥

(१-१६-३३)

सत्पुरुषों से बातचीत के सम्बन्ध की तो बात ही रहने दो क्योंकि सत्पुरुषों का स्मरण ही शुद्ध कर देता है, यही कहते हैं—

जो जीव भक्तों का स्मरण करते हैं तथा भक्त जिन जीवों का स्मरण करते हैं उन संसारी जीवों के गृह भी पवित्र हो जाते हैं यदि वे जीव पवित्र हो जावें तो आश्र्य ही क्या है और जिन भक्तों के स्मरण से ही घर पवित्र हो जाते हैं नो उनके दर्शन, स्पर्श, तथा चरणामृत और बैठने आदि से घर पवित्र हो जावें इसका तो कहना ही क्या है ।

दुरापाह्यल्पतपसः सेवा वैकुण्ठवर्त्मसु ।

यत्रोपगीयते नित्यं देवदेवो जनार्दनः ॥८॥

(३-७-२०)

यदि ऐसा ही है तो सब लोग साधुओं की सेवा क्यों नहीं करते हैं ? इसका उत्तर श्री विदुर वचन से देते हैं—

जिन भगवद्भक्तों में देव-देवजनार्दन का स्वभाव से ही सर्वदा गान होता रहता है, भगवान् के पास पहुँचने वाले, उन भक्तों की सेवा भगवद्अनुग्रह से रहित पुरुषों को नहीं मिल सकती है ।

सत्सेवया भगवतः कूटस्थस्थ मधुद्विषः ।

रतिरासो भवेत्तीव्रः पादयोवर्यसनार्दनः ॥९॥

(३-७-१६)

सत्सङ्ग का फल दिखाते हैं—

सत्पुरुषों की सेवा से अर्थात् सत्पुरुषों के द्वारा कथित हरि-कथा के श्रवणादिक से मधु नाशक भगवान् के चरण-कमलों में सर्वदा एक रूप से स्थिति वाला भाव उत्पन्न हो जाता है । उस भाव से उत्पन्न होने वाली रस रूप बलवती-प्रीति संसार स्वरूप विपत्ति को नष्ट करती है ।

प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयोविदुः ।

स एव साधुषु कृतोमोक्षद्वारमपावृतम् ॥१०॥

(३-२५-१६)

प्रश्न—‘संगः सर्वात्मना त्याज्यः’ सञ्ज्ञ का बिलकुल त्याग करना चाहिये इत्यादि प्रमाण से कल्याणेच्छुकों को भी सत्जञ्ज का त्याग करना चाहिये क्योंकि वह भी तो सञ्ज्ञ ही है।

उत्तर—यह ठीक नहीं है। यही कहते हैं—

कवि लोगों ने यह निश्चय कर दिया है कि प्रसञ्ज (संसारियों का-सञ्ज) जीव की बड़ी मजबूत फाँसी है वही प्रसञ्ज यदि साधु-सञ्ज में लगाया जावे तो जीव के लिये मोक्ष-द्वार खुल जाता है अर्थात् सत्सञ्ज भक्ति का दान करके परिश्रम के बिना ही मोक्ष का दान करता है।

तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम् ।

अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः ॥११॥

(३-२४-२०)

जो शीत उष्णादि को सहन करते हैं तथा दुखियों पर जो करुणा करने वाले हैं। देहधारियों पर जो स्वार्थ-रहित प्रेम करते हैं। तथा जो मन से भी किसी से छेष नहीं करते हैं अर्थात् किसी को भी मन से शत्रु न मानने वाले तथा वाह्याभ्यन्तर की इन्द्रियों को वश में रखने वाले हैं और जो सदाचारी हैं। सुन्दर स्वभाव ही जिनका भूषण है तथा जो साधुओं को अपना भूषण समझते हैं वे ही साधु हैं।

मथ्यनन्येन भावेन भक्ति कुर्वन्ति ये हृढाम् ।

मत्कृते त्यक्तकर्मणस्त्यक्ते स्वजनवान्धवाः ॥१२॥

मदाश्रयाः कथामृष्टाः श्रृण्वन्ति कथयन्ति च ।

तपन्ति विविधास्तापा नैतान्मद्गतचेतसः ॥१३॥

(३-२५-२२-२३)

और जो मुझमें निष्काम तथा अव्यभिचारिणी भक्ति के करने वाले हैं। जिन्होंने मेरी प्रसन्नता के लिये ही कर्म त्याग दिये हैं तथा अपने जन (कुटुम्बी) और सम्बन्धियों को जिन्होंने त्याग दिया है तथा जो मेरी पवित्र-कथाओं का श्रवण-कीर्तन करते हैं, इन भक्तों को आध्यात्मिकादि ताप नहीं जीत सकते हैं क्योंकि उनका चित्त मेरे में लीन है अथवा जिनको ताप नहीं जीत सकते हैं वे ही साधु हैं।

त एते साधवः साधिव सर्वसंगविवर्जिताः ।
संगस्तेष्वथते प्रार्थ्यः संगदोषहरा हि ते ॥१४॥
(३-२५-४२)

साधुओं के लक्षण कह कर श्रीकपिलदेवजी माता को उपदेश करते हैं—

मातः ! पूर्वोक्त-लक्षण जिनमें संघटित हों वे ही साधु हैं उन भीतर बाहर सर्व सङ्ग-शून्य साधुओं के सङ्ग की आप प्रार्थना करो । वे कारुणिक साधु संसारी सङ्ग से उत्पन्न दोषों को नष्ट करते हैं इसलिये ‘साधु-सङ्ग का भी त्याग करना चाहिये’ यह कहना मिथ्या है

भक्ति मुहुः प्रवहतां त्वयि मे प्रसङ्गो

भूयादनन्तं महताममलाशयानाम् ।
येनाञ्चसोऽल्लवणमुरुव्यसनं भवाबिध

नेष्ये भवदगुणकथामृतपानमत्ताः ॥१५॥

(४-६-११)

ऐसे ही सत्सङ्ग की प्रार्थना करनी चाहिये यह कह चुके हैं । विज्ञ लोगों ने भी प्रार्थना की है-यही कहते हैं—

हे अनन्त ! सर्वदा आपकी भक्ति करने वाले निर्मल मन जो महत्पुरुष हैं उनका अच्छी प्रकार से मुझे सङ्ग मिले क्योंकि सत्सङ्ग के द्वारा आपकी गुणमयी-कथाओं के पान से मतवाला होकर मैं इस अनन्त दुखः परिपूर्ण सुदुःसह संसार-सागर को तर जाऊँगा । मोक्ष में तो आप के कथामृत का पान ही नहीं है । इसलिये मोक्ष की चाहना नहीं है सत्सङ्ग द्वारा प्राप्त हुई भक्ति से भगवान् का साक्षात् दर्शन प्राप्त होने पर भी श्रीध्रुवजी ने भगवान् से सत्सङ्ग की प्रार्थना की है । इससे यह सिद्ध होता है कि सत्सङ्ग भक्ति का कारण है तथा फल भी है और स्वयं भक्ति स्वरूप भी है ।

तेन स्मरन्त्यतितरा प्रियमीशमत्यं

ये चान्वदः सुत सुहृदगृहवित्त दाराः ।

ये त्वब्जनाभ भवदीय पदारविन्द

सौगन्ध्य लुब्ध हृदयेषु कृत प्रसङ्गाः ॥१६॥

(४-६-१२)

भगवत्कथामृत का पान मतवाला बना देता है, यह वर्णन करते हैं—

हे कमल नाभ ! आपके चरण-कमल की सुगन्धि में जिनका हृदय अमर की भाँति लोभित हो रहा है, उनका अच्छी तरह से जो सङ्ग करते हैं अर्थात् आपके कथामृत का पान करते हैं, हे ईश ! उनको अपने अत्यन्त प्रिय शरीर का तथा शरीर सम्बन्धी सुत, सुहृद, गृह, धन, खी आदि का कुछ भी स्मरण नहीं रहता है, अर्थात् आपके कथामृत को पान कर मतवाले होकर अन्य देहादि सभी पदार्थों के ख्याल भूल जाते हैं ।

श्लोक में 'तु' शब्द का तात्पर्य यह है कि भक्ति ही देहादिके स्मरण को भूल जाते हैं । योगदिनिष्ठजन - देहाभिमान को नहीं भूलते हैं ।

तेषामहं पाद सरोज रेणुमार्या वहे याधिकिरीटमायुः ।

यं नित्यदा विभ्रत आशु पापं नस्यत्वमुं सर्वगुणा भजन्ति ॥१७॥

(४-२१-४३)

सत्सङ्ग-रूप महत्पदार्थ की महिमा तो रहने दो, उन भगवद्भक्तों की चरण-रज भी इलाघनीय है, यह श्रीपृथु महाराज के वाक्य से कहते हैं—

हे श्रेष्ठ लोगो ! मैं आपकी प्रार्थना करता हूँ कि भगवद्भक्तों की चरण-रज, जब तक मैं जीता रहूँ, तब तक मस्तक पर धारण करता रहूँ । कृपा कर यही वरदान मुझे दीजिये, क्योंकि चरण रज को मस्तक पर धारण करने से पाप शीघ्र हो समूल नष्ट हो जाते हैं और चरण-रजधारी उस पुरुष में सर्व गुण निवास करते हैं, अर्थात् रज-सेवी पुरुष सर्व गुणों का आश्रय हो जाता है ।

संगमः खलु साध्वनामुभयेषाञ्च सम्भतः ।

यत्संभाषण संप्रश्नः सर्वषां वितनोतिशम् ॥१८॥

(४-२२-१८)

श्रीसनत्कुमार-वाक्य से सत्सङ्ग की प्रशंसा करते हैं—

राजन् ! सत्पुरुषों का सङ्गम वक्ता तथा श्रोता को समान ही सुख-दाई है । जिनका परस्पर वार्तालाप तथा संप्रश्न सभी मनुष्यों का कल्याण करता है, ऐसा भगवद्भक्त-सङ्ग चाहना करने योग्य ही है ।

अथानघाङ्गेस्तव कीर्ति तीर्थयो
 रन्तर्वहिः स्नान विधूत पापमनाम् ।
 भूतेष्वनुक्रोश सुसत्वशीलिनां
 स्यात्सङ्ग्योऽनुग्रह एष न स्तव ॥१८॥

(१-१८-३३)

‘सत्सङ्ग करो’ ऐसा दूसरों को भी सिखाना चाहिये, यह श्रीरुद्रवाक्य से कहते हैं—

हे प्रचेता गण ! भगवान् से ऐसी प्रार्थना करो कि भगवन् ! आपके चरण सर्व प्रकार के पापों को नष्ट करते हैं। आपके कीर्ति-सलिल में जिन्होंने अपने हृदय कमल को स्नान कराया है तथा श्रीगङ्गाजी की पापनाशिनी पवित्र धारा में जिन्होंने अपने शरीर को नहवाया है, पापों के नष्ट होने से जिनका हृदय निर्मल हो गया है, तथा जो सर्व जीवों पर दया करत हैं और जो छल-छिद्र से रहित हैं तथा सीधापन आदि गुणों से जो युक्त है, ऐसे ही सत्पुरुषों का सङ्ग हमको प्राप्त हो । इसी आपका कृपा को हम चाहते हैं।

यत्रडद्यन्ते कथा भृष्टास्तृणायाः प्रशमोयतः ।
 निर्वैरं सर्व भूतेषु नोद्वेगो यत्र कश्चन ॥२०॥

यत्र नारायणः साक्षान्न्यासिनां परमा गतिः ।
 प्रस्तूयते सत्कथामु मुक्त सङ्गः पुनः पुनः ॥२१॥

तेषां विचरतां पदभ्यां तीर्थानां पावनेच्छया ।
 भीतस्य कि न रोचेत तावकानां समागमः ॥२२॥

(४-३०-३५।३६।३७)

यह ठीक कहा है कि सत्सङ्ग, सङ्ग-दोष को हरण कर लेता है यही वाक्य प्रचेताश्रों के वाक्य से कहते हैं—

जिस भगवद्गुरु-समाज में भगवान् की पाप हारिणी कथाओं की स्तुति की जाती है, उन भगवद्गुरुओं का समागम, संसार से भयभीत किस पुरुष को अच्छा नहीं लगेगा । जिन कथाओं के श्रवण से विषय-तृष्णा

अच्छी तरह शान्त हो जाती है, और जिस कथा-श्वरण से प्राणियों में वैर भी नहीं रहता है, तथा भय भी नष्ट हो जाता है अर्थात् जिस तरह स्वाभाविक तृष्णादि, असत्सङ्ग से बढ़ते हैं, इसी तरह सत्सङ्ग से नष्ट भी हो जाते हैं। इससे यह आया कि सङ्ग-समागम, सङ्ग-दोष को नष्ट करने वाला है।

सांसारिक प्रीति से रहित महात्मा लोग सत्कथाओं के अन्दर, परमविरक्त भक्तों के परम गीतस्वरूप भगवान् की बारम्बार स्तुति करते हैं।

तीर्थों के मन में अपने पवित्र करने की जो अभिलाषा है, उस अभिलाषा को पूर्ण करने के लिये तीर्थों में जाकर जो सत्पुरुष उनको पवित्र करते हैं, उन महत्पुरुषों का सङ्ग संसार में भयभीत किस पुरुष को न रुचेगा, इसलिये सत्सङ्ग विना संसार उद्धार नहीं हो सकता है।

**महत्सेवां द्वारमाहुर्त्विमुक्तेस्तमो द्वारं योषितां सङ्ग्निःसङ्ग्नम् ।
महान्तस्ते समचिताः प्रशान्ता विमन्यवः सुहृदः साधवोये ॥२३॥**

(५-५-२)

पूर्वोक्त प्रसङ्ग में यद्यपि सत्सङ्ग कल्याणकारक हो तौ भी असङ्गत के त्याग की कोई आवश्यकता नहीं है इस विषय में सत्सङ्ग और असत्सङ्ग का फल दिखाते हुये सन्तों के लक्षण कहते हैं—

महत्पुरुषों की सेवा मोक्ष का द्वार है तथा खी लम्पटों का संग नरक का द्वार है। जो स्वर्ग, नरक तथा मोक्ष में समचित्त वाले हैं और जो मुझमें निष्ठा रखते हैं तथा क्रोध से रहित हैं और सबके मित्र हैं, सदाचारी हैं वे ही महत्पुरुष हैं।

**ये वा मपोशे कृत सौहृदार्था
जनेषु देहं भर वातिकेषु ।
गेहेषु जायात्मजरातिमत्सु
न प्रीतियुक्ता यावदर्थश्च लोके ॥२४॥**

(५-५-३)

सबका सार स्वरूप लक्षण है—

मुझ ईश्वर में प्रेम करना ही जो पुरुषार्थ मानते हैं। उदरभरण की चर्चा करने वालों में जिनका प्रेम नहीं है। तथा खी पुत्र और धन

सम्पन्न गृह में जिननी प्रीति नहीं है । जिनके पदार्थ से शरीर का निर्वाह हो सके, उतने ही पदार्थ की जो चाहना करते हैं वे ही महत्पुरुष हैं ।

गुरुन्सस्यात्स्वजनो न सस्या

त्विता न स स्याऽजननो न सा स्यात् ।

देवं न तत्स्यान्न पतिश्च स स्या

न्नमोचवेद्यः समुपेत मृत्युम् ॥२५॥

(५-५-१८)

यहि गृहादिक भक्ति के उपकारक नहीं हैं, तो उनमें प्रीति नहीं करनी चाहिये, यही कहते हैं—

जो संसार स्वरूप मृत्यु से भक्ति मार्ग के उपदेश द्वारा जीव को मुक्त न कर सके वह गुरु नहीं है तथा अपना जन भी नहीं है, देवता भी नहीं हैं और पति भी नहीं है। अथवा जो जीव को मुक्त न कर सके वह गुरु बनने की इच्छा न करे। तथा अपना जन भी न बने, माता पिता भी पुत्रोपत्ति की इच्छा न करे, और देवता भी न बने अर्थात् देव-पूजा को ग्रहण न करे जो अपनी स्त्री को मुक्त न कर सके वह पति न बने, अर्थात् विवाह न करावे।

मागार दरात्मज वित्त बन्धुषु

संगो यदिस्याद् भगवत्प्रियेषु नः ।

यः प्राणबृत्या परितुष्ट आत्मदान्

चिद्धृत्य दूरान्न तथेन्द्रियप्रियः ॥२६॥

(५-१८-१)

गृहादिक जो भगवद्-भजन के कार्य में नहीं आते हैं, वे भक्ति-बद्धक नहीं होते हैं, इसलिये उनमें प्रेम नहीं करना चाहिये। यह श्रीप्रल्लाद वाक्य से कहते हैं—

हे नृसिंह ! यदि उत्तम भाग्य से हमें भगवत्-प्रियों का ही संग मिलेगा, तो घर, स्त्री, पुत्र, धन तथा बान्धवों में अपने आप ही हमारी प्रीति न होगी। क्योंकि जो भगवत् के प्रेमियों का संग करने वाला, प्राण-रक्षा के योग्य पदार्थ से ही संतोष कर लेता है, वह शीघ्र ही सिद्धि को प्राप्त

होता है। और जिसको इन्द्रियों के विषय प्रिय हैं अर्थात् जो विषय सुख में आसक्त है, वह सिद्धि को शीघ्र प्राप्त नहीं कर सकता है।

अहो नृजन्माखिलजन्मशोभनं

कि जन्मभिस्त्वपरैरथ्यमुष्मिन् ।

न यदधृषोकेशयशः कृतात्मनां

महात्मनां वः प्रचुर समागमः ॥२७॥

(५-१३-२१)

जिनके हृदय में असम्भावनादिक कुतके भरी हुई हैं, उनके ऊपर सत्संग का प्रभाव किस तरह होगा? यहाँ पर अधिक कहते की आवश्यकता नहीं है क्योंकि सत्संग सर्व शक्तिमान है वह थोड़ा भी जीव के संशय को छिन्न-भिन्न कर कल्याण करता है। यह श्रीरहगग वाक्य से कहते हैं—

सर्व-जन्मों में मनुष्य जन्म ही उत्तम है स्वर्गादि लोकों में सर्वोत्तम देवादि जन्म धारण करने से कुछ भी लाभ नहीं है। क्योंकि उन लोकों में भगवद्-यश से पवित्र हो गया है हृदय जिनका ऐस आपके सदृश जड़भरतादि महात्माओं का प्रचुर (अधिक) रूप से समागम नहीं मिलता है। और कभी-कभी मिलता भी है तो वह विषयावेश की अधिकता से कुछ लाभ नहीं करता है।

न ह्यद्वृतं त्वच्चरणाऽजरेणुभि

हंतांहसो भक्तिरधोक्षजेऽमला ।

मौरूर्त्तिकाद्यस्य समागमाच्च मे

दुस्तर्कमूलोऽयहतोऽविवेकः ॥२८॥

(५-१३-२२)

सत्संग का फल वर्णन करते हैं—

सर्वदा आपके श्रीचरणों की रजके धारण करने से जिनके पाप नष्ट हो गये हैं उनको भगवान् की निर्मल भक्ति प्राप्त हो जाती है इसमें कोई आश्रय नहीं है। क्योंकि आपके दोघड़ी भर के सत्संग से ही, दुष्ट-तर्कों से जिसकी जड़ मजबूत हो रही है, ऐसा वह मेरा अविवेक भी नष्ट हो गया है।

नैषां मलिस्तावदुरुक्माङ्ग्रि
 स्पृशत्यवर्थापिगमो यदर्थः ।
 महीपसां पादुरसोऽभिषेकं
 निष्कञ्चनानां न बृणीत यावत् ॥२६॥

(७-५-२३)

इसलिये महत्पुरुजों की चरण-रेणु के प्रसाद से ही भगवद्-भक्ति का लाभ होता है और अन्य किसी भी प्रकार से नहीं होता, यही कहते हैं—

जीव जब तक परम भगवद्-भक्तों की चरण-रज में स्नान करना स्वीकार नहीं करता तब तक भक्ति-इच्छुक जीवों की बुद्धि भगवान् को स्पर्श नहीं करती है। बुद्धि जब भगवान् के चरण-कमलों का स्पर्श करती है तब इस जीव में रहने वाले सम्पूर्ण-अनर्थ नष्ट हो जाते हैं।

रहूगणेतत्पसा नयाति नचेजययानिर्वपणाद्गृहाद्वा ।
 नच्छन्दसानैवजलाग्नि सूर्यैविना महत्पादरजोऽभिषेकम् ॥३०॥

(७-१२-१२)

पूर्वोक्त अर्थ को श्रीजडभरत-वाक्य से पुष्ट करते हैं—

रहूगण ! वह भगवान् तप, यज्ञ, अन्न-दान, गृहस्थ-धर्म, वेदाभ्यस, जल, ग्रन्थि तथा सूर्य की उपासना से प्राप्त नहीं होता है किन्तु महत्पुरुषों की चरण-रज में स्नान करने से ही मिलता है।

एवं जनं निपतितं प्रभवाहि कूपे
 कामाभिकाममनुयः प्रपतनप्रसङ्गात् ।
 कृत्वात्मसात् सुर्खिणा भगवन् गृहीतः
 सोऽहं कथं नु विसृजेतवभृत्यसेवाम् ॥३१॥

(७-८-२८)

श्रीप्रल्लादजी कहते हैं जैसे आपने मेरे ऊपर अनुग्रह किया है इसी तरह श्रीनारद मुनि ने भी अनुग्रह किया था। भगवान् ! विषय की अभिलाषा करने वाले मूढ़ लोग काल सर्प-युक्त संसार स्वरूप कूप में पड़े हुये हैं

मैं भी उन्हीं के संग से उस अन्धकूप में गिर रहा था । ऐसे समय में भगवान् नारद ने ही मुझ पर अनुग्रह किया और उस अन्ध कूप से निकाल लिया । अर्थात् श्रीनारदजी की कृपा से ही आपने मेरे ऊपर अत्यन्त अनुग्रह किया है इसलिये मैं आपके भक्तों की सेवा को कैसे छोड़ सकता हूँ ।

यत्संगलब्धं निजबीर्य वैभवं
तीर्थं मुहुः संस्पृशतां हि मानसम् ।
हरत्यजोऽन्तः श्रुतिभिर्गतोऽन्नजं
को वै न सेवेत मुकुन्दविक्रमम् ॥३२॥
(५-१८-११)

श्रीप्रल्लाद-वाक्य से सत्संग का फल वर्णन करते हैं—

भगवान् के प्रिय-भक्तों के संग से श्रीहरि की जिस महिमा का ज्ञान होता है उस महिमा की सामर्थ्य अलौकिक है जो पुरुष उस महिमा को श्रवण करते हैं, भगवान् उनके हृदय में प्रकट होकर मन की सकल दुष्ट-वासनाओं को नष्ट कर देते हैं, ऐसे उन भक्तों की सेवा कौन नहीं करेगा अर्थात् सभी करें । गंगादि तीर्थों में स्नान करने से शरीर सम्बन्धी पाप तो नष्ट हो जाते हैं, किन्तु हृदय शुद्ध नहीं होता है ।

अहं भक्त पराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज ।
साधुभिर्गस्तहृदयो भक्तं भर्वत जनप्रियः ॥३३॥

(८-४-६३)

प्रश्न—साधुओं की सेवा से क्या आवश्यकता है, साक्षात् भगवान् की ही सेवा करनी चाहिये ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि भगवान् भक्तों के अधीन हैं अतः भक्तों की कृपा बिना भगवान् भी नहीं मिल सकते हैं । यह श्रीवैकुण्ठनाथ के वाक्य से कहते हैं—

हे द्विज दुर्वासः ! मैं अस्वतन्त्र की भाँति भक्तों के अधीन अपने शरीर की क्रियाओं को करता हूँ । तथा भक्ताधीन होकर ही अपनी वाणी से दूसरों के लिये वरदानादि देता हूँ । मेरे हृदय को साधु-भक्तों ने ग्रसित कर लिया है अर्थात् उनके संकल्पादि के अनुसार ही मेरे भी संकल्पादि होते हैं

क्योंकि मुझे भक्त-जन अत्यन्त प्रिय हैं ।

नाहमात्मानमाशासे भद्रवत्तेः साधुभिविना ।

श्रियश्चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहंपरा ॥३४॥

(८-४-६४)

भक्त-जन मुझे कितने प्रिय हैं यह भी सुनो—

जिन भक्तों ने मुझे ही अपना सर्वोत्तम प्राप्य समझा है, उन निष्कपट भक्तों के बिना मैं अपने इस परमानन्द सागर श्यामसुन्दर स्वरूप को भी नहीं चाहता हूँ और नाश षडैश्वर्य-पूर्ण सम्पत्ति को भी भक्तों के बिना नहीं चाहता हूँ । अर्थात् भक्तों की भक्ति का रसास्वाद ऐसा विचित्र है कि जिसके सामने मेरे स्वरूप का तथा सम्पूर्ण सम्पत्तियों का स्वाद मुझे कीका मालूम पड़ता है ।

ये दारागारपुत्रामप्राणान् वित्तमिमं परम् ।

हित्वा मां शरणं पाताः कथंतांस्त्यक्तुमुत्सहे ॥३५॥

(८-४-६५)

हे ब्रह्मण्य देव ! मेरी उपेक्षा मत करो क्योंकि मैं ब्राह्मण हूँ तो क्या मैं भक्तों की उपेक्षा कर दूँ । हे द्विज ! आप भक्तों के साथ द्वेष करने वाले हैं इसलिये यदि आपकी रक्षा करता हूँ तो भक्तों का त्याग होता है, और यह भक्तों का त्याग मुझे असह्य है अर्थात् भक्तों का त्याग नहीं कर सकता हूँ । यही कहते हैं—

जो भक्त स्त्री, घर, पुत्र, बन्धु, प्राण, धन, इस लोक और परलोक को छोड़कर मेरी शरण आये हैं उनको छोड़ने का उत्साह कैसे कर सकता हूँ ।

जब आपने काल कृत्या राजा अम्बरीष के ऊपर छोड़ी तो राजा निशंक होकर खड़ा रहा और आप परम विरक्त तथा आत्माराम होकर भी शरीर-रक्षा के लिये संसार की परिक्रमा कर आये तथा ब्रह्मा रुद्रादिकों की प्रार्थना भी करते फिरे । इसी से अपने तथा भक्त-राजा अम्बरीष के मूल्य पहिचानिये ।

मयि निर्वद्ध हृदयाः साधवः समर्द्धिनः ।

वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्त्वियः सत्पतिं यथा ॥३६॥

(८-४-६६)

जिनका हृदय मेरे में बँध रहा है। अपने तथा दूसरों के सुख-दुःख को सम-टृष्णि से देखने वाले वे निष्काम मेरे भक्त, भक्ति से मुझको इस तरह वश में कर लेते हैं जिस तरह पतिव्रता ख्याँ सेवा के बल से सत्पति को वश में कर लेती हैं।

मत्सेवया प्रतीतं ते सालोक्यादि चतुष्टयम् ।

नेच्छन्ति सेवयापूर्णाः कुतोऽन्यत्काल विष्णुतम् ॥३७॥

(६-४-६७)

वे भक्त, मेरी सेवा से स्वयमेव प्राप्त सालोक्यादि चार प्रकार की मोक्ष को भी नहीं चाहते हैं केवल मेरी सेवा में ही अपने को पूर्ण समझते हैं तो नश्वर (काल के द्वारा नाश करने योग्य) स्वर्गादि लोकों को तो क्यों चाहेंगे ! इससे यह आया कि सालोक्यादिक को काल नष्ट नहीं कर सकता क्योंकि सालोक्यादि से भिन्न को ही नाशवान् कहा है।

साध्वो हृदयं मह्यं साध्वनां हृदयन्त्वहम् ।

मदन्यत्तेन जानन्ति नाहं तेभ्योमनागपि ॥३८॥

(६-४-६८)

और आप मेरे भक्त के विरोधी होने से मुझे संताप देते हैं, इसलिये आपको योग्य दण्ड देना चाहिये था, वह मैंने नहीं दिया है यह ही मेरी परम ब्रह्मण्यता (ब्राह्मण भक्ति) है। साधु मेरे हृदय हैं, अतः आपने अम्बरीष को जलाने के लिये प्रवृत्ति नहीं की प्रत्युत मेरे हृदय को ही जलाया।

मैं तो आपका ही अपराधी हूँ इसलिये आपके चरणों की शरण हूँ आप प्रसन्न हो जाइये।

भगवान् बोले मैं तो साधुओं का हृदय हूँ इसलिये साधुओं के हृदय की प्रसन्नता से ही मेरी प्रसन्नता है। अतः राजा अम्बरीष को ही प्रसन्न करो वे मुझसे अन्य वस्तु को अधिक नहीं जानते हैं और मैं भी उनसे दूसरा कुछ भी नहीं जानता हूँ इस प्रकरण का तात्पर्य यह है कि साधुओं की कृपा बिना भगवान् का मिलना कठिन है।

मवद्विधा महाभागा निषेद्या अर्हसत्तमाः ।
श्रेयस्कामैनृभिनित्यं देवाः स्वार्था न साधवः ॥३८॥

(१०-४८-३०)

अन्य देवताओं की आराधना से ही भगवत्प्राप्ति करनी चाहिये, मनुष्यों की आराधना से क्या लाभ है ? इसका भगवद्वाक्य से उत्तर देते हैं ।

हे अकूरजी ! आप जैसे सर्वोत्तम पूजनीय महा भाग्यवानों की ही कल्याणेच्छुओं के द्वारा निरन्तर सेवा करनी चाहिये । देवता स्वार्थी हैं और साधु तो पर अनुग्रह में ही तत्पर रहते हैं ।

भवापवर्गो भ्रमतो यदाभवे

ज्जनस्य तद्व्यच्युत सत्समागमः ।

सत्सङ्गमो यद्हि तदैव सद्गतो

परावरेशो त्वयि जायते रतिः ॥४०॥

(१०-५१-५५)

संसार-चक्र में भ्रमण करने वाले जीव का जब संसार से पार होने का समय आता है तब आपके भक्तों का समागम प्राप्त होता है । और जब सत्संग की उपलब्धि [प्राप्ति] होती है तभी जगत् के स्वामी तथा सत्पुरुषों करके प्राप्त करने योग्य आप में जीव का प्रेम-भाव हो जाता है । इसलिये देवताराधन की अपेक्षा सत्संग शीघ्र ही फल देने वाला है, अतः श्रेष्ठ है ।

न ह्यमयानि तीर्थानि न देवा मृच्छलामयाः ।

ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ॥४१॥

(१०-४८ ६१)

तीर्थों को साधारण जल स्वरूप तथा देवों को मृत्तिका एवं पाषाण रूप नहीं समझना चाहिये, किन्तु देवता स्वरूप ही समझना चाहिये । वे तीर्थ और देवता अधिक काल में पवित्र करते हैं, इसलिये तीर्थों की जल-रूपता तथा देवताओं की मृत-पाषाण स्वरूपता में तात्पर्य नहीं है । क्योंकि मिट्टी-पत्थर तथा जल तो बहुत काल में भी पवित्र नहीं कर सकते और साधु दर्शन मात्र से ही पवित्र करते हैं, सत्संग से जिसके पाप क्षीण हो गये हैं, उसको श्रीकृष्ण-भक्ति सुख से ही मिल जाती है ।

अहो वयं जन्म भूतो लब्धं कात्स्न्येन तत्फलम् ।

देवानामपि दुष्प्रापं यद्योगेश्वर दर्शनम् ॥ ४२ ॥

किं स्वल्प तपसां नृणामर्चायां देवचक्षुषाम् ।

दर्शन स्पर्शन प्रश्न प्रह्वं पादार्चनादिकम् ॥ ४३ ॥

(१०-४२-१०)

सत्संग और देवों के विषय में बराबरी का प्रश्न भी नहीं उठ सकता क्योंकि सत्संग देवों को भी दुर्लभ है, यह श्री कृष्ण वाक्य से कहते हैं ।

अहो ! आज देवताओं को भी दुर्लभ आपके दर्शनों को पाकर हमने अपना जन्म-फल प्राप्त किया । केवल प्रतिमा को ही देव रूप से देखने वाले स्वल्प अर्थात् तुच्छ तप में तत्पर मनुष्यों को आप ऐसे योगीश्वरों के दर्शन स्पर्श पूजन, प्रणाम, चरण-सेवन आदि और आप से बात चीत करने का सौभाग्य प्राप्त होना अत्यन्त कठिन ही नहीं, वरन् एक प्रकार से असम्भव-सा है ।

नाग्निर्नसूर्यो न च चन्द्रतारका
नभूर्जलं खंश्वसनोऽथवाङ्मनः ।

उपासिता भेदकृतो हरन्त्यधं
विपश्चितो छन्निति मुहूर्तसेवया ॥ ४४ ॥

(१०-४४-१२)

क्षुधा, पिपासा तथा संस्कारादिक से अपने और दूसरे में सुख-दुःख सम होने पर भी जो भेद करता है अर्थात् जो सब के लिये सुख नहीं चाहता है, उस पुरुष से उपासित अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, तारागण, पृथ्वी, जल, आकाश, पवन, वाक् और मन, इनके अधिष्ठात्री देवता भी शीघ्र पाप को नष्ट नहीं करते, किन्तु बहुत काल पर्यन्त सेवा करने से ही पाप को नष्ट करते हैं । और साधु जन तो मुहूर्त मात्र की सेवा से ही, विषम-भाव से उत्पन्न श्रवज्ञा, उपेक्षा तथा मात्सर्यादि-रूप पाप को शीघ्र ही नष्ट कर देते हैं ।

यस्यात्मबुद्धिः कुण्डे त्रिधातुके
स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः ।

यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कहिचि
ज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः ॥ ४५ ॥

(१०-८४-१३)

जो शरीर में आत्म-बुद्धि ('मैं, ऐसी बुद्धि') करता हैं और पूर्ण ज्ञानी साधुओं आत्म-बुद्धि नहीं करता है, वह बैल और गधे के सदृश है, अर्थात् साधुओं में ऐसा प्रेम करना चाहिये, जिससे ऐसा निश्चय हो जावे कि साधु और हम एक ही हैं। और जो कलत्र आदि में 'ये मेरे हैं' ऐसी बुद्धि रखता है तथा परम-भक्तों को 'ये मेरे हैं' ऐसा नहीं समझता है, वह भी बैल और गधा है। जो भूमि के विकारों में पूज्य-बुद्धि रखता है तथा साधुओं में जिस की पूज्य बुद्धि नहीं है, वह भी बैल और गर्दंभ के सदृश है।

साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोक पावनः ।

हरन्त्यघं तेऽङ्गं सङ्गात्तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः ॥ ४६ ॥

(८ । ८ । ६)

प्रश्न—सत्पुरुषों में कौनसी ऐसी सामर्थ्य है कि जिससे वे पापों को नष्ट कर देते हैं ?

उत्तर—श्री गङ्गा जी के प्रति कहे हुए भागीरथ-वाक्य से देते हैं। जो विरक्त शान्त-स्वभाव वाले ब्रह्म-निष्ठ जगत् के पावनकर्ता साधु हैं, वे अपने शरीर के संग से तेरे पापों को नष्ट कर देंगे, क्योंकि उसके हृदय में पापों को नाश करने वाले श्रीहरि प्रकट होकर विराजते हैं।

भूतानां देवचरितं दुःखाय च सुखाय च ।

सुखायेवहि साध्वनां त्वादृशामच्युतात्मनाम् ॥ ४७ ॥

(११-२-५)

अब यह कहते हैं कि, देवता तो दुःख के भी कारण हो जाते हैं और-साधु केवल सुख ही देते हैं, देवता वर्षीदिक् चरित्रों से प्राणियों को कभी दुःख और कभी सुख देते हैं, और आप जैसे माहात्माओं का चरित्र तो प्राणियों के लिये केवल सुख का ही दान करता है।

भजन्ति ये यथा देवान्देवा अपितर्थैवतान् ।

छायेव कर्मसच्चिवाः साधवो दीनवत्सलाः ॥ ४८ ॥

(११-२-६)

जो जिस तरह देवों को सेवा करते हैं, देवता भी उनको उसी तरह का फल देते हैं। उस फल-दान में दृष्टान्त देते हैं—

शरीर की क्रिया के अनुसार जैसे छाया भी क्रिया करती है, ऐसे ही अपने भक्त के कर्मानुसार देवता फल देते हैं साधु-लोग तो केवल दीन-जनों पर ही वात्सल्य करते हैं अर्थात् दीनों के दुःखों को नाश करने के लिये तयार हो जाते हैं।

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभंगुरः ।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम् ॥ ४८ ॥

(११-६-२८)

इसलिए देवताओं के भजन की अपेक्षा स्वार्थ-रहित करणा करने वाले साधुओं का सत्संग कल्याण-स्वरूप है, यह श्रीजनकंजी के वचन से दिखाते हैं—

यद्यपि जीव को बहुत से देह प्राप्त होते हैं और यह मनुष्य-देह भले ही क्षण भर में नष्ट हो जाता है, तो भी मनुष्य-देह अत्यन्त दुर्लभ है अर्थात् बड़ी कठिनता से प्राप्त होता है, क्य कि यह मनुष्य-शरीर मोक्ष तथा प्रेम की प्राप्ति का साधन है। और उस मनुष्य-शरीर के प्राप्त होने पर भी भगवत् के प्रेमियों का दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है, क्योंकि भगवत्-प्रेमियों के सत्सङ्ग विना भगवद्-ज्ञान तथा भगवद्-भक्ति प्राप्त ही नहीं होती है इन ज्ञान और भक्ति के प्राप्ति न होने से मनुष्य और पशु में कुछ भी अन्तर नहीं है। इसी लिये मनुष्य-देह को प्राप्त कर जो साधुओं की उपासना से भगवद्-भक्ति को धारण नहीं करता है, वह दुर्मति है।

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्घव ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा ॥ ५० ॥
स्रतानि यत्रश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः ।
यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहोहिमाम् ॥ ५१ ॥

(११-१२-११२)

सर्व साधनों से सत्सङ्ग को श्रेष्ठ बतलाते हैं—

जिस प्रकार मुझको सत्सङ्ग वश में करता है, इस प्रकार आसान, प्राणायामादि स्वरूप योग, तत्वों का विवेक-रूप सांख्य, अहिंसादि-स्वरूप धर्म, वेद-पाठ, कृच्छ्रचान्द्रायणादि-रूप तप, सन्न्यास, अग्निहोत्रादिक इष्ट, बावड़ी-कूप-तालावादिक का वनवाना-रूप पूर्त, दान-स्वरूप दक्षिणा, एकादशी से भिन्न व्रत देवपूजा-स्वरूप यज्ञ, रहस्य मन्त्र-स्वरूप छन्द, तीर्थ यम और नियम, ये भी मुझको वश में नहीं कर सकते, क्योंकि सत्सङ्ग सर्व पदार्थों से जीव की प्रीति को तोड़ कर एक भगवच्चरण में ही प्रेम को उत्पन्न कर देता है।

सत्संगेन हि देतेया यातुधानाः खगा मृगाः ।

गन्धवर्पिसरसो नागाः सिद्धाश्चारणर गुह्यकाः ॥ ५२ ॥

विद्याधरामनुष्येषु वैश्याः शूद्रः स्त्रियोऽन्त्यजाः ।

रजस्तमः प्रकृयतस्तस्मिंस्तस्मिन्युगेऽनघ ॥ ५३ ॥

वहवो मत्पदं प्राप्सस्त्वाष्टकायाधवादय् ।

वृषपर्वा वनिर्वाणो मयश्चाथ विभीषणः ॥ ५४ ॥

सुग्रीवो हनुमानृक्षो गजो गृह्णोवणिक्पथः ।

व्याघ कुब्जा ब्रजे गोप्यो यज्ञ पत्न्यास्तथाऽपरे ॥ ५५ ॥

(११-१२-३ से ६)

हे निष्पाप ! बहुत से दैत्यादिक युग-युग में सत्सङ्ग के प्रभाव से मेरे धाम को प्राप्त हुये हैं, वे ये हैं—

दैत्य, राक्षस, मृग, पक्षि, गन्धर्व, अप्सरायें, नाग, सिद्ध, चारण, गुह्यक, विद्याधर, ये सब देव-योनि हैं। मनुष्य में—वैश्य, शूद्र, गुह, निषादादि तथा शवरी ग्रादिक स्त्रियाँ और अन्त्यज (चाण्डाल), और भी रजोगुणी, तमोगुणी स्वभाव वाले वृत्रासुर तथा प्रह्लादादिक, वृषपर्वा, वलि, वाणासुर और मय दैत्य तथा विभीषणादि राक्षस, सुग्रीव, हनुमानादि कपिवर, जामवान् ऋक्ष, गज, जटायु, गृह्ण, तुलाधार वैश्य, धर्म-व्याघ, सैरन्ध्री (कुब्जा), ब्रज में—गोपियाँ, यज्ञ-पत्नियाँ तथा ब्राह्मण-स्त्रियाँ; और भी बहुत से, सत्सङ्ग से मेरे धाम को प्राप्त हुये हैं।

तेनाधीत श्रुतिगणा नोपासित महत्तमाः ।
अव्रतात्मतपसः सत्संगानुमामुपागताः ॥ ५६ ॥

(११-१२-७)

अन्य साधनों के अभाव को दिखाते हैं—

उन्होंने वेदों को भी नहीं पढ़ा तथा वेदों के पढ़ने के लिये अध्यापकों के समीप भी नहीं गये और तप तथा व्रत भी उन्होंने नहीं किये, केवल सत्सङ्ग से ही मुझको प्राप्त हुये हैं ।

ततोदुःखसङ्गमुत्सृज्य सत्तु सज्जेत बुद्धिमान् ।

सन्त एवास्य छिन्दन्ति मनो व्यासङ्गमुक्तिभिः ॥ ५७ ॥

(११-२६-२६)

इस प्रकार सत्सङ्ग की प्रशंसा करके प्रसङ्ग सङ्गति से भगवत् के कहे हुए चार श्लोकों से असत्सङ्ग की निन्दा करते हुए इस प्रकरण को समाप्त करते हैं ।

इसलिये बुद्धिमान् पुरुष असत्सङ्गको छोड़ कर सत्पुरुषों में ही प्रेम करें, क्योंकि सत्पुरुष ही भक्ति की महिमा के उपदेशों से इस जीव के हृदय में रहने वाली, भक्ति में विध्न करने वाली अनेक संसारी वासनाओं को नष्ट कर देते हैं ।

यद्यसङ्ग्द्वः पथिपुनः शिश्नोदरकृतोद्यमः ।

आस्थितो रमते जन्तुस्तमो विशति पूर्ववत् ॥ ५८ ॥

(३-३१-३२)

शिश्न गुह्येन्द्रिय और उदर इन दोनों के लिये ही जो उद्योग करते हैं उन असत्पुरुषों के साथ मिलकर जो जीव उन्हीं के विषय स्वरूप मार्ग में बैठ कर कीड़ा करता है वह पहले की तरह ही संसार को प्राप्त हो जाता है ।

सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धिर्हीः श्रीर्यशः क्षमा ।

शमो इमोभगश्चेति यत्सङ्गाद् यातिसंक्षयम् ॥ ५९ ॥

(३-३१-३४)

सत्यादि गुण युक्त मनुष्य भी असत्सङ्ग न करे क्योंकि असत्पुरुषों के सङ्ग में सत्य, पवित्रता, दया मौत, परम-पुरुषार्थ विषयक-बुद्धि, लज्जा, धन-धान्यादिक स्वरूप श्री, यश, क्षमा, सहनशील स्वभाव, बाह्य-द्विद्य-निग्रह मन का निग्रह, भाग्य अर्थात् उन्नति, ये सब अच्छी तरह से नष्ट हो जाते हैं।

तेष्वशान्तेषु मूढेषु खण्डतात्मस्वसाधुषु ।
संगं न कुर्याच्छोच्येषु योषित्क्रीड़ामृगेषु च ॥ ६० ॥

(३-३१-३५)

इस लिये क्रोधादिक के वश में रहने वाले तथा शोशान्त, शोच्य अर्थात् पापों में मन रखने वाले देहाभिमानी, क्रीड़ा मृग के समान ख्लियों के अधीन रहने वाले जो मूर्ख असाधु हैं, उनका सङ्ग न करे।

यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम् ।
शीतं भयं तमोऽप्येति साधून्ससेवतस्तथा ॥ ६१ ॥

(११-२६-३१)

इस प्रकार असाधु-संग की निन्दा करके सत्पुरुषों से उपदेश ग्रहण करने की भी आवश्यकता नहीं है, केवल उनकी समीपता ही संसार से तरा देती है यह कहते हैं—

अग्नि का आश्रय करने वाले मनुष्य के जिस प्रकार शीत, भय और अन्धकार नष्ट हो जाते हैं, इसी तरह साधु-सेवी पुरुष के कर्मादि में जड़ता शीत, संसार-भय तथा अज्ञान भक्ति के प्राप्त होने पर नष्ट हो जाते हैं।

निमज्जयोन्मज्जतां घोरे भवाव्यौ परमायनम् ।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्तानौदृढे वाप्सु मज्जताम् ॥ ६२ ॥

(११-२६-३२)

और अधिक क्या कहें, घोर संसार सागर में डूब कर जीव ऊँच नीच योनियों में प्राप्त हुए हैं, उन जीवों के आश्रय दाता शान्त ब्रह्मवेत्ता सन्त ही हैं, जिस तरह जल में डूबने वाले पुरुष का आश्रय दृढ़ नौका ही है।

(११-२६-३३)

अन्नं हि प्राणिनां प्राण आत्मनां शरणं त्वहम् ।
धर्मोवित्तं नृणां प्रेत्यसन्तोऽवाग्विभ्यतोऽरणम् ॥६३॥

(११-२६-३३)

इस प्रकार कहे हुए प्रकरण के तात्पर्यार्थ को दो श्लोकों से समाप्त करते हैं ।

जैसे अन्न ही प्राणियों को जीवित रखने वाला है और जैसे दुखियों का मैं ईश्वर ही दुःख से छुड़ाने वाला हूँ और जैसे शरीर-त्याग के बाद परलोक में धर्म ही धन ह, इसो तरह संसार पतन से डरने वाले जीवों को सन्त लोग ही बचाने वाले हैं ।

सन्तोदिशन्तिचक्षूषि वहिरकः समुत्थितः ।
देवतावान्धवाः सन्तः सन्त आत्माहमेवच ॥६४॥

(११-२६-३४)

सन्त ही अति दुर्लभ सगुण और निर्गुण ज्ञान-रूप अनेक नेत्रों का दान करते हैं, और सूर्य तो बाहर के घट-पटादि पदार्थों को ही प्रकाशित करने वाले नेत्र को ही खोलता है और सन्तों को ही अपना देवता तथा बान्धव समझना चाहिये । निष्कर्ष यह है कि भगवद्गुरु की प्राप्ति में साधुओं की सेवा (सत्सङ्ग) ही मूल कारण है ।

इति सत्सङ्ग-महिमानिरूपण द्वितीय विरचनम् ।



नवधा-भक्ति

तृतीय विरचन

अब तृतीय-विरचन में भक्ति के भेदों का वर्णन करते हैं। इन भक्ति के भेदों में नौ प्रकार की भक्ति हा प्रधान है, उन्हीं नौ भेदों को दिखाते हैं—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।

अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥१॥

इति पुंसापिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा ।

क्रियेत भगवत्यज्ञा तत्मन्येऽधीतमुत्तमम् ॥२॥

(७।५।२३-२४)

अपने प्रति अन्य मनुष्यों के द्वारा वर्णन किये हुए अथवा अपने-आप कहे हुए श्रोहरि के नाम, रूप, गुण तथा लोलाओं का जो कर्णेन्द्रिय से ग्रहण करना है, उसी का नाम ‘श्रवण-भक्ति’ है, तथा भगवत्-नाम, रूप, गुण और लीलाओं का जो स्वयं अपने मुख से उच्चारण करना है, वह ‘कीर्तन-भक्ति’ है। भगवत् के नाम रूपादिक का जो चिन्तन है, वह ‘स्मरण-भक्ति’ है। श्रीप्रभु के श्रीविग्रह की सेवा का नाम ‘पाद-सेवन-भक्ति’ है। शास्त्रोक्त-रीति से भगवत् की विधिवत् जो पूजा है, उसी का नाम ‘अर्चन-भक्ति’ है। प्रभु को जो नमस्कार करना है, वह ‘वन्दन-भक्ति’ है। सम्पूर्ण कर्मों का भगवत्-सेवा के लिये जो करना है, वह ‘दास्य-भक्ति’ है। श्रीभगवान् का पूर्ण विश्वास तथा जो उनसे मित्र सदृश वर्तवि है, वह ‘सख्य-भक्ति’ है। तन, मन, बुद्धि, चित्त तथा अपने जीव-स्वरूप का भगवत् के लिये जो समर्पण है, वह ‘आत्मनिवेदन-भक्ति’ है। अर्थात् जैसे वेचे हुए तथा दान किये गये घोड़े बैल आदिक पशु अपने स्वामी की अध्यक्षता में अपने पालन-पोषण की चिन्ता नाम मात्र को भी नहीं करते हैं, तंसे ही श्रीप्रभु के लिये अपने देहादिक को समर्पण करके उनके पालन-पोषण की चिन्ता का त्यागना ही ‘आत्म-निवेदन-भक्ति’ है। इस प्रकार यह नव-रूपात्मिका प्रथम से ही समर्पण की हुई भगवत् में भक्ति पुरुष के द्वारा की जावे, तो उस को मैं उत्तम पढ़ना समझता हूँ। और यह जो हमने अपने शिक्षक-शंड तथा मर्क से अध्ययन किया है, उसको मैं उत्तम पढ़ना नहीं समझता हूँ।

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयो-

वर्चांसि वंकुण्ठगुणानुवर्णने ।

करौ हरेमन्दिरमार्जनादिषु-

श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये ॥३॥

(६-४-१६)

शिष्ट (महत्) पुरुषों का आचरण भी ऐसा ही है, अब इसी को वर्णन करते हैं—

उन परम राज्ञि भक्तप्रवर श्रीअम्बरीषजी ने अपने मन को श्रीकृष्ण के चरण कमलों में, वाणी को भगवद्गुणों के निरन्तर कीर्तन में, हाथों को श्रीहरि-मन्दिर के मार्जनादि-स्वरूप सेवा में और कानों को भगवत् तथा भगवद्भक्तों के चरित्रों के श्रवण में ही लगाया ।

मुकुन्दलिङ्गालयदर्शनेहशौ,

तदभृत्य गात्रस्पर्शेऽङ्ग सङ्गमम् ।

घ्राणच्च तत्पादसरोजसौरभे

श्रीमत्तुलस्था रसनां तदर्पिते ॥४॥

(६-४-२०)

भगवत् के श्यामसुन्दर-स्वरूप तथा स्वरूप-युक्त मन्दिरों के दर्शनों में नेत्रों को, भगवद्भक्तों के स्पर्श में अपने अङ्ग-सङ्ग को, भगवच्चरणार्पित विचित्र सुगन्धि-युक्त श्रीतुलसीजी के सूँघने में नासिका को, और रसना को भगवत्-प्रसाद के रसास्वाद में लगाया ।

पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे,

शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने ।

कामश्च दास्ये न तु कामकाम्यया,

यथोत्तमःश्लोकजनाश्रयारतिः ॥५॥

(६-४-२१)

श्रीहरि के तीर्थ जो श्रीवृन्दावनादि हैं, उनकी यात्रा में अपने चरणों को, और भगवान् हृषीकेश के श्रीचरणों के प्रणाम में अपने मस्तिष्क को लगाया ।

भक्तों को भगवत्-प्रसाद स्वीकार करना चाहिये अर्थात् भगवत्प्रसादी वस्त्र, माला, चन्दनादि धारण करना चाहिये, इसमें ही दासों की परम शोभा है। इसी भावानुसार भोगवासनाओं का परित्याग करके भगवत्-प्रसादी माला, चन्दनादिक को धारण करते थे, उन अम्बरीषजी के भक्ति-प्रकार को वर्णन करते हैं जैसी भगवान् के भक्तों में आपकी प्रीति थी, वैसी ही प्रीति श्रीप्रभु में भी करते थे।

इससे यहाँ पर यह दिखाया कि इन श्रीमहाराज का भगवद्भक्तों में परम अलौकिक प्रेम था।

श्रवणं कीर्त्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः ।

सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥६॥

(७-११-११)

यहाँ पर मन्दिर मर्जनादि भाक्ति-स्वरूप प्रसङ्ग का वर्णन किया, पुनः उसी को ब्रह्मर्थि श्रीनारदजी के वाक्य से वर्णन करते हैं—

महत्पुरुषों के प्राप्त करने योग्य श्रीभगवान् के श्रवण, कीर्तन, स्मरण, सेवा, पूजा, नमस्कार, दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन ये भक्त के अङ्ग मनुष्य करके अवश्य ही आचरणीय हैं।

श्रुतः संकीर्तितो ध्यातः पूजितश्चाहृतोऽपिवा ।

नृणां धुनोति भगवान् हृत्स्थो जन्मायुताशुभम् ॥७॥

(१२-३-४६)

भगवान् का श्रवण, संकीर्तन, ध्यान-पूजन और सत्कार जीवों के हृदय में भगवान् को प्रकट कर देता है, फिर वे श्रीहरि, जीवों के हृदय में रहने वाले असंख्य जन्मों के पापों को नाश कर देते हैं। केवल पापों को ही नाश नहीं करते किन्तु पाप-प्रवर्तक वासनाओं को भी समूल नष्ट कर देते हैं।

शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्षणाशः

स्मरन्ति नन्दन्ति, तदेहितं जनाः ।

त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं

भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम् ॥८॥

(१-८-३६)

इस प्रकार पाप के नाश होने पर जो फल होता है, उसको वर्णन करते हैं,

जो जन तेरी लीला का श्रवण, गान, कीर्तन, स्मरण और श्लाघा तिरन्तर करते हैं, वे ही संसार के प्रवाह को हटाने वाले आपके चरण कमल का शीघ्र दर्शन करते हैं ।

अहं हरे तब पादेकमूल दासानुवासो भवितास्मि भूयः ।

मनः स्मरेतामुपतेषुर्णानां गृणीत वाक् कर्म करोतु कायः ॥८८॥

(५-११-२४)

और आपके श्रवणादिक में जो तत्पर हैं, उनका संसार भी ग्रानन्द-मय है यह दिखाते हैं—हे हरे ! जिन भक्तों ने आपके एक चरण कमल का ही आश्रय किया है, उनके दासों के दासों का दास मैं बारम्बार बनूँ, यह ही मेरी प्रार्थना है, तथा मेरा मन प्राणप्यारे ! आपके गुणों को स्मरण किया करे, और यह वाणी मेरी आपके गुणों का ही गृणन (कथन) किया करे, और यह वारीर आपके सेवा रूप कर्मों को किया करे ।

अर्थात् मेरा चित्त-भ्रमर जगत् के आकषण तथा प्रलोभनों में न फँस-कर आपके अशारणशरण पादपद्मों में विहार करता रहे, और आपके प्रिय भक्तों में अटूट प्रेम बना रहे । बस यही प्रार्थना है ।

अशेष संक्लेश शमं विधत्ते गुणानुवादश्रवणं मुरारे ।

कुतः पुनस्तच्चरणारविन्दपरागसेवारतिरात्म लब्धा ॥१०॥

(३-३-१४)

प्रश्न—भक्ति-परिपूर्ण वृत्रामुर को भी संसार-दुःख की अनुभूति तो होती ही होगी ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि भगवद् गुणानुवादों का श्रवण ही ऐहिक तथा पारलौकिक सर्वक्लेशों का नाश करता है, तो फिर मन में उत्पन्न भगवत् के चरण कमल-रज की सेवा में जो प्रीति है, वह सर्वक्लेशों को नाश कर देती है, इस विषय में कहना ही क्या है ।

नोत्तमःश्लोकवार्तानां जुषतां तत्कथामृतम् ।

स्यात्सम्भ्रमोऽन्तकालेऽपि स्मरतां तत्पदाम्बुजम् ॥११॥

(१-१८-४)

फिर भी भक्तों को संसार-अवस्था में संसार-जनित दुःखानुभूति नहीं है, इसमें श्रीसूत वाक्य में 'कैमुतिकन्याय' का प्रदर्शन करते हैं—

जो उत्तम श्रोक यशनिधि श्रीभगवान् के कीर्तन करने वाले हैं तथा भगवान् की कथा स्वरूप अमृत का परम प्रेम से पान करते हैं, तथा श्रीहरि के चरण-कम्बल का निरन्तर ध्यान करते हैं, उनको संसार में मोह के न रहने से परमानन्द स्वरूप भगवत्प्राप्ति अवश्य होगी, इस भाव से तथा भगवत् स्वरूपानन्द के परम मिठास से मरण समय में भी दुःखानुभूति तथा भय नहीं होता है, फिर स्वस्थावस्था में तो दुःख कैसे हो सकता है !

मत्यस्तयानुसवमेधितया मुकुन्द,
श्रीमत्कथाश्रवणकीर्तनचिन्तयैति ।

तद्वाम दुस्त्यज्य कृतान्तजवापवर्ग,
ग्रामाद्वनं क्षितिभुजोपि ययुर्यदर्थः ॥१२॥

(१०-८०-५०)

जीवन्मुक्ति तथा परम मुक्ति के फलों का वर्णन कर अब श्रीभक्ति महारानी के दूसरे फल का वर्णन करते हैं—

भगवान् की श्रीमती कथा के श्रवण तथा कीर्तन और स्मरण के द्वारा अर्थात् निरन्तर बढ़ने वाली भगवत्प्रीति से ही भक्त भगवत् के लोक को प्राप्त होता है। और भगवत् का जो लोक (धाम) है, वह काल करके नष्ट नहीं होता है, क्योंकि दुस्तर काल-वेग भगवत् के धाम में अपने पराक्रम से हत होकर नष्ट हो जाता है, और भगवद्वाम जो कि परमपुरुषार्थ स्वरूप है, वह अति ही दुःख तथा कठिनता से प्राप्त होने योग्य है।

पुरुष सुख को चाहता है, इसलिये सुख स्वरूप भगवद्वाम पुरुषार्थ कहाता है, इसी को दिखाते हैं—

जिस धाम की चाहना से राजा लोग राज्य पाट को छोड़ बन को छले गये, अर्थात् उन्होंने भगवद्वाम प्राप्ति में बड़े-बड़े कष्टों को सहन किया। इससे यह दिखाया कि भगवद्वाम प्राप्ति जहाँ पर कि आनन्द-कन्द श्रीहरि विराजते हैं, वह बड़ी ही कठिन है, तथा दुःसाध्य है। इसलिये साधक को उत्साह पूर्वक कष्टों को सहन करते हुये भगवत्प्राप्ति-साधन करना चाहिये।

तानोह विश्वविलयोद्भववृत्तिहेतुः
 कमण्यनन्यविषयाणि हरिश्चकार ।
 यस्त्वज्ञः गायति शृणोत्यनुमोदते वा
 भवितर्भवेद् भगवति हृपवर्गमार्गे ॥१३॥

(१०-६६-४५)

और श्रवणादिक रूप भक्ति-महिमा को तो रहने दो, उसका अनुमोदन भी बड़ी भारी महिमा वाला है। यही कहते हैं—जगत् की उत्पत्ति स्थिति प्रलय के कारण हरि जिन विलक्षण कर्मों को करते हैं, जो भक्त प्रेम पूर्वक उनका गायन श्रवण अनुमोदन करता है, हे परीक्षित ! मोक्ष के दाता भगवान् में उस भक्त की प्रेम-भक्ति हो जाती है, इस वास्ते ठीक कहा है कि भक्तों को संसार-दुःख नहीं होता है।

कामं भवः स्ववृजिननिरयेषु नः स्ता,
 च्छेतोऽलिवद्यदिनुते पदयो रमेत ।
 वाचश्चनस्तुलसिवद्यदितेऽङ्गिष्ठशोभाः
 पूर्येत ते गुणगणैर्यदि कर्णरन्ध्रः ॥१४॥

(३-१५-४६)

इसी तरह श्रवण-कीर्तनादिकों में प्रेम रखने वाले भक्तों को नरकादि की पीड़ा भी दुखी नहीं कर सकती है। और ज्ञानी लोग भी इन श्रवणादिकों की प्रार्थना करते हैं कि हमको श्रीभगवत् के परम शान्ति प्रद श्रवणादिक प्राप्त होवें—इससे यह दिखाया कि ज्ञानादिक से भगवद्भक्ति रूप श्रवणादिक अत्युत्तम हैं। इसी को श्रीसनकादिकों के वाक्य से दिखाते हैं—इससे पूर्व हमारा कोई भी पाप नहीं था, अर्थात् हमने अब तक कोई भी पाप नहीं किया, परन्तु अब तो हमने सब पाप-पुञ्ज एकत्रित कर लिये, क्योंकि आपके भक्तों को हमने शाप दिया है। इसलिये यदि आपके चरण कमलों में हमारा चित्त भ्रमर की भाँति रमण करे तो, उन भक्तों के प्रति किये हुए पापों से

नरक-तुल्य कूकर, शूकर आदि नीच पाप स्वरूप योनियों में ही हमारा जन्म हो, अर्थात् जैसे भ्रमर कण्टक-विद्ध होने पर भी पुष्पों में ही रमण करता है नाथ ! ऐसे ही हमारा मन भी विघ्नों को न गिनकर यदि आपके चरणों में ही रमण करे तो यथेष्ट हमको नरक में वास दीजिये । जैसे श्रीतुलसीजी अपने सौम्यादि गुणों की अपेक्षा न करके केवल आपके ही चरण-कमल के संसर्ग से अपने को परम शोभायमान तथा कृतकृत्य समझती है, ऐसे ही हमारी वाणी यदि आपके चरण कमलों के गुणानुवाद से शाभा को प्राप्त होवे, तो यथेष्ट हमारा नरक वास हो, और यदि हमारा कर्ण-छिद्र आपके गुणगणों से परिपूर्ण होता रहे तो हमारा यथेष्ट नरक वास हो । यहाँ पर गूढ़ अभिप्राय यह है कि कर्णेन्द्रिय का छिद्र आकाश स्वरूप पदार्थ है तथा अमूर्त है । इसलिये कर्ण का पूर्ण होना अत्यन्त ही दुष्कर है अतः श्रवण भक्ति में अत्यन्त ही लोलुप तथा मुग्ध होने से सनत्कुमारों ने सदा श्रवण की ही प्रार्थना की ।

मनसो वृत्तयोनः स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः ।

वाचोऽभिधायिनी नम्निं कायस्तत्प्रहृणादिषु ॥१५॥

(१०-४७-६६)

ज्ञानादिक से श्रवणादिक श्रेष्ठ हैं इसीलिये प्राज्ञजन श्रवणादिक स्वरूप भक्ति-योग की प्रार्थना करते हैं कि-हमारे मन के सर्वभाव पूर्णरूप से आनन्द कन्द श्रीकृष्णचन्द्र के चरणारविन्दों में निमग्न रहें एवं हमारा शरीर उन हरि के नमस्कार तथा सेवा आदिक में लगा रहे, तथा हमारी वाणी उन प्रभु के श्री नामकीर्तन के स्वभाव वाली बनी रहे ।

शृण्वतां गृणतां वीर्यण्युद्वामानि हरेर्मुहुः ।

यथा सुजातया भवत्या शुद्धचेन्नात्मा व्रतादिभिः ॥१६॥

(६-३-३३)

प्रश्न—निःसन्देह यह बात ठीक है कि श्रीहरि अपनी श्रवणादिक भक्ति के द्वारा जीव के हृदय में प्रकट होकर असंख्य जन्मों के पाप तथा पाप वासनाओं को नष्ट कर देते हैं, तथापि भगवत् श्रवणादिक साक्षात् शुद्धि के

निदान नहीं कहे जा सकते क्योंकि शास्त्रों में व्रतादिक साधनों से भी निष्पाप होना सुना जाता है ?

उत्तर—यमराज वाक्य से देते हैं—जो पुरुष श्रीहरि के परम उदार चारु चरित्रों का निरन्तर कीर्तन करते हैं, उन पुरुषों का मन जैसे केवल कीर्तनादिक भक्ति से परम उज्ज्वल होता है, ऐसे व्रतादिक से शुद्ध नहीं हाता है।

यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौमत्पुण्यगाथाश्रवणामिधानः ।

तथा तथा पश्यति वस्तुसूक्ष्मं चक्षुर्धर्थं वाञ्छन् संप्रयुक्तम् ॥१७॥

(११-१४-२६)

अब साक्षात् भगवत् के ही वाक्य से मन की शुद्धि स्वरूप भक्ति-फल को दिखाते हैं अञ्जन-रञ्जित चक्षु की भाँति आत्मा (मन) मेरी पुण्य-कथाओं के श्रवण और कीर्तन के द्वारा जैसे-जैसे निमंल होता जाता है, वैसे-वैसे ही सूक्ष्म वस्तु जो मेरी भक्ति का स्वरूप है उसको देखता जाता है।

शृण्वतः श्रद्धया नित्यं गृणतश्च स्वचेष्टितम् ।

कालेन नाति दीघेण भगवान् विशते हृदि ॥१८॥

(२-८-४)

जो भगवान् के चरित्रों को प्रतिदिन श्रद्धा से श्रवण तथा कीर्तन करता है उसके हृदय में भगवान् अल्प समय में ही प्रकाशित हो जाते हैं इस प्रकार अन्य उत्तायों की अपेक्षा इन श्रवण, कीर्तन की श्रेष्ठता दिखलाई।

संकोर्त्यमानो भगवाननन्तः

श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुं साम् ।

प्रविश्य चित्तं विघ्नोत्यशेषं

यथा तमाऽर्कोऽभ्रमिवार्तिवातः ॥१९॥

(१२-१२-४८)

पुनः शुद्धि स्वरूप फल को दिखाते हैं—अनन्त भगवान् के संकीर्तन करने वाले तथा महामा को श्रवण करने वाले जीवों के हृदय में भगवान् प्रकट होकर वासना सहित सर्व दुःखों को इस प्रकार नष्ट कर देते हैं, जिस तरह सूर्य अन्धकार को नष्ट कर देता है। यदि कहो कि सूर्य पर्वत-गुहा के अन्धकार को नष्ट नहीं कर सकता है, तो दूसरे दृष्टान्त से समझो जैसे

प्रचण्ड-पवन मेघ को उड़ा देता है, इसी तरह भगवान् भी दुःखों को समूल नष्ट कर देता है।

तस्माद् भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः ।

श्रोतव्यः कीर्त्तिव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छ्रुताऽभयम् ॥२०॥

(२-१-५)

अन्य किसी भी उपाय से दुःखों की शान्ति नहीं होती है यही कहते हैं—

राजन् ! और किसी भी प्रकार से भय की निवृत्ति नहीं होती है, इस लिये जिसको सर्व प्रकार के भय की निवृत्ति की चाहना है, वह सर्वान्तर्यामी ईश्वर भगवान् श्रीहरि का श्रवण कीर्तन तथा स्मरण करे।

या निर्वृतिस्तनुभृतां तद्व पादपद्म

ध्यानाद् भवज्जन कथाश्रवणेन वा स्थात् ।

सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ माभूत्

किञ्चन्वन्तकासि लुलितात्पत्तां विमानात् ॥२१॥

(४-८-१०)

वास्तव में तो श्रवणादि भक्ति का सुख मोक्ष से भी श्रेष्ठ है, इसलिये ये श्रवणादिक स्वयं हि पुरुषार्थ स्वरूप हैं यह कहते हैं—

आपके चरण कमल के ध्यान से अथवा आपके भक्तों की कथा श्रवण से जो आनन्द होता है वह सुख असाधारण अर्थात् सर्वोत्तम जिसकी महिमा है उस ब्रह्म रूप में भी नहीं है, फिर काल स्वरूप तलबार से नष्ट होने वाले विमान से अर्थात् स्वर्ग से गिरने वाले देवताओं को वह सुख कैसे मिल सकता है।

शृण्वन्सुभद्राणि रथाङ्गपाणे

र्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके ।

गीतानि नामानि तदर्थकानि

गायन्विलज्जो विचरेदसङ्गः ॥२२॥

(११-२-३८)

श्रवणादिक में लज्जा नहीं करनी चाहिये क्यों कि वे परम पुरुषार्थ स्वरूप हैं, यही कहते हैं—

रथाङ्ग (चक्र) जिसके हाथ में है, उसकी सर्वोत्कृष्ट मञ्जलमय जन्म-लीलाओं को गोवर्धन धारणादि कर्मों को और प्राकृतिक कवियों द्वारा प्राकृत-भाषा में बनाये गये लीला-काव्यों को और वे लीला जिन नामों में भर रही है, उन नामों को लज्जा-रहित होकर श्रवण, कीर्तन करता हुआ आसक्ति को छोड़ कर विचरण करे।

न यत्र श्रवणादीनि रक्षोदनानि स्वर्मसु ।

कुर्वन्ति सात्वतां भर्तुर्यातुधान्यश्च तत्र हि ॥२३॥

(१०-६-३)

श्रवणादि भक्तियों के न करने से जो अनिष्ट फल होता है, उसको कहते हैं—

भक्तों के पालन-पोषण करने वाले तथा राक्षसों के नाश करने वाले श्री कृष्ण के श्रवणादिक जहाँ नहीं होते हैं, वहाँ राक्षसियां अपना कार्य करने में समर्थ होती हैं।

जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयं

चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दम् ।

कृष्णाय नो नमति यच्छ्र एकदापि

तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यान् ॥२४॥

(६-३-३०)

केवल इतना ही नहीं, किन्तु भजन न करने से परलोक में भी भय है। यह यम वाक्य से कहते हैं—

हे द्रूतो ! मेरी बात को सुनो जिनकी जिह्वा भगवद् गुण तथा नामों को एक बार भी कीर्तन नहीं करती है, जिनका चित्त एक बार भी भगवच्चरण-कमलों का स्मरण नहीं करता है और जिनका शिर एक बार भी श्रीकृष्ण के लिये नमस्कार नहीं करता है, तथा जिन्होंने श्रीकृष्ण के पूजनादि-कार्य भी नहीं किये हैं, उन खोटे पुरुषों को मेरे पास लान्त्रो। जो श्रवणादि में लगे हुए हैं उनकी तरफ दृष्टिपात भी नहीं करना।

विलेवतो रुक्मविक्रमान्थे

न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य ।

जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत
न चोपगायन्त्युरुगाय गाथा: ॥२५॥

(२-३-२०)

और जो श्रवणादि से विमुख हैं उसके देहेन्द्रियादिक सब व्यर्थ हैं यह श्री शोनक-वाक्य से दिखाते हैं—

हाय ! जो मनुष्य भगवान् की लीलाओं को नहीं सुनता है उसके कर्ण छिद्र बिल के सदृश व्यर्थ हैं, जो मनुष्य महद् यश वाले भगवान् की गाथाओं का जिह्वा से गान नहीं करता है, उसकी जिह्वा मेढ़क की जिह्वा के समान व्यर्थ है। अर्थात् ठर्ट-टर्ट करने वाली है।

भारः परं पट्टकिरीट जुष
मध्युत्तमाङ्गं न नमेन्मुकुन्दम् ।
शावौ करौ नो कुरुतः सपर्या
हरेलंसत्काश्चन कञ्जणौवा ॥२६॥

(२-३-२१)

रेशमी पगड़ी और किरीट से युक्त मस्तक यदि कृष्ण को नमस्कार नहीं करता है तो वह केवल भार रूप ही है, जिन हाथों में सुवर्ण कंकण शोभा पा रहे हैं वे हाथ यदि भगवत्पूजा नहीं करते हैं तो वे हाथ मुद्दे के हाथों के समान हैं।

वर्हायिते ते नयने नराणां
तिङ्गानि विष्णोर्नि निरोक्षतोये ।
पादौ नृणां तौ द्रुमजन्मभाजौ
क्षेत्राणि नानुव्रजतो हरेयो ॥२७॥

(२-३-२२)

जो नेत्र भगवान् के स्वरूपों का दर्शन नहीं करते हैं वे मयूर-पंख के चैंदवा के समान हैं। जो पैर हरि के तीर्थों में नहीं जाते हैं। वे वृक्ष के सदृश हैं— इससे शरीर को वृक्षरूप दिखाया।

जीवंछ्वो भागवताङ्गिधरेणून्
 न जातुमत्योऽभिलभेतयस्तु ।
 श्रीविष्णुपद्मा मनुजस्तुलस्याः
 इवसंछ्वो यस्तु न वेद गन्धम् ॥२८॥

(२-३-२३)

जो मनुष्य भगवद्गुर्कों की चरण रज को कभी प्राप्त नहीं करता है वह जीता ही मुर्दा है और जो मनुष्य श्रीविष्णु चरण अपित तुलसी के गंध को नहीं सूखता है अथवा दैवयोग से प्राप्त हुई तुलसी सुगन्ध की प्रसंशा नहीं करता है वह श्वास लेता हुआ भी मुर्दा है ।

सा वाग् यथा तस्य गुणान् गृणीते
 करौ च तत्कर्मकरौ मनश्च ।
 स्मरेद्वसन्तं स्थिरजंगमेषु
 शृणोति तत्पुण्य कथाः सकर्णः ॥२९॥

(१०-८०-३)

तो वे लोग सफल कैसे होंगे ? वहाँ कहते हैं—वही वाणी सफल है जिससे कि भगवान् के गुणों का वर्णन करते हैं और जो हाथ भगवत् के कृत्यों को करते हैं वे हाथ सफल हैं स्थावर-जंगम में विराजमान् भगवान् को जो मन स्मरण करता है वही मन सफल है, जो भगवत् को पवित्र कथाओं का श्रवण करते हैं वे ही कर्ण सफल हैं ।

शिरस्तु तस्याभय लिङ्गमानमेत
 तदेव यत्पश्यति तद्दि चक्षुः ।
 अङ्गानि विष्णोरथ तज्जनानां
 पादोदकं यानि भजन्ति नित्यम् ॥३०॥

(१०-८०-४)

और भगवान् के मंदिर में प्रतिष्ठित स्वरूप तथा भक्त स्वरूप इन दोनों मूर्तियों को जो नमस्कार करते हैं वे ही मस्तक सफल हैं, इन्हीं दोनों स्वरूपों को जो नेत्र देखते हैं वे ही नेत्र सफल हैं, भगवान् और भक्तों के चर-

रामूत को जो अङ्ग नित्य सेवन करते हैं, वे ही अङ्ग सफल हैं ।

एकान्तलाभं वचसोनुपुं सां

सुश्लोक मौलेगुणवादमाहुः ।

श्रुतेश्च विद्विद्धिरूपाकृतायां

कथासुधायामुपसम्प्रयोगम् ॥३१॥

(३-६-३६)

सुन्दर जिनका यश है उन वलि आदिकों के शिरो भूषण-स्वरूप हरि के गुणों का कहना हीं मनुष्यों की वाणी का सर्वोत्तम फल ॥। भक्ति रसास्वादी भक्तों से गान की गई अमृत स्वरूप कथा में कर्णेन्द्रिय को लगा देना ही कर्ण का असली फल है । ऐसा भक्ति सार को समझने वाले लोगों ने कहा है ।

तस्माद्गोविन्दमाहात्म्यमानन्दरससुन्दरम् ।

शृणुयात्कीर्त्येन्नित्यं स कृतार्थो न संशयः ॥३२॥

(श्रीहरिभक्ति सुधोदय)

इससे आनन्द-स्वरूप रस के द्वारा वर्णन की गई गोविन्द की महिमा बहुत ही सुन्दर है इसलिये जो नित्य उस महिमा का श्रवण एवं कीर्तन करेगा, वह कृतार्थ अर्थात् मुक्त हो जायेगा इसमें सन्देह नहीं है, अतः श्रवणादि भक्तियोंका आचरण करना ही मनुष्य का एकमात्र धर्म है ।

इति नवधा-भक्तिनिरूपण तृतीय-विरचनम् ।

श्रवण-भक्ति



[चतुर्थ-विरचन]

अब चतुर्थ विरचन में श्रवण-भक्ति का वर्णन किया जाता है। सर्व अनर्थों का मूल मलीन वासना है वह वासना श्री कृष्ण कथाओं के श्रवण से निवृत्त हो जाती है।

शृणवतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः ।

हृद्यन्तस्थो ह्यमद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम् ॥१॥

(१-२-१७)

जिन भगवान् का श्रवण तथा कीर्तन जीवों के पापों को नष्ट कर पवित्र बना देता है, वे श्री कृष्ण अपनी कथाओं के सुनने वाले भक्तों के हृदय में प्रकट होकर उनकी दुष्ट वासनाओं को समूल नष्ट कर देते हैं।

पिवन्ति ये भगवत् आत्मनः सतां

कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम् ।

पुनन्ति ते विषयविद्विषिताशयं

व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम् ॥२॥

(२-२-३७)

जो लोग महत्पुरुषों के मुखारविद से क्षरित सर्वान्तर्यामी श्री हरि के कथामृत को कर्ण-पुटों (कटोरों में भर कर पान करते हैं वे पुरुष अपने विषय-वासना से दूषित अर्थात् मलीन मन को पवित्र कर लेते हैं तथा भगवच्चरण कमलों को सुख से ही प्राप्त कर लेते हैं।

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्ववसेन कथासुयः ।

नोत्पादयेद्यदि र्ति श्रम एव हि केवलम् ॥३॥

(१-२-८)

प्रश्न—जबकि स्वधर्मनिष्ठान से ही चित्त की शुद्धि हो सकती है तो कथा--श्रवण की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—ठीक है धर्म से शुद्धि होती है, परन्तु भक्ति की सहायता बिना केवल धर्म शुद्ध नहीं कर सकता है, यह वर्णन करते हैं—जो धर्म भगवत्-कथाओं में प्रेम को उत्पन्न नहीं करता है, यद्यपि वह अच्छी प्रकार से आचरण किया गया है, तो भी केवल श्रम ही है। अर्थात् मोक्षमार्ग का साधक न होने से व्यर्थ ही है। स्वर्गादि के फल भी नाशवान् हैं, इसलिये मोक्ष मार्ग से विमुख कर्म, स्वर्ग फल वाले होने पर भी व्यर्थ ही हैं।

ज्ञाने प्रयास मुदपास्य नमन्त एव,

जीवन्ति सन् मुखरितां भवदीयवार्तम् ।

स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनु वाऽमनोभि

ये प्रायशोऽजितजितोऽप्यसितैङ्गिलोकयाम् ॥४॥

(१०-१४-३)

जिसकी भगवत् कथा में प्रीति हो गई है, वह कर्मादिक साधनों के सहित ज्ञान के विषय में प्रयास को छोड़कर केवल श्रीभगवान् को वश में करने वाली कथा को ही श्रवण करे, यह श्री ब्रह्माजी के वाक्य से प्रदर्शन करते हैं—

हे प्रभो ! निःसन्देह आपको त्रिलोकी में कोई भी वश करने में समर्थ नहीं है, तथापि वे परम चतुर भक्त आपको अपने वशीभूत कर लेते हैं, जो कि ज्ञान प्राप्ति के लिये थोड़ा भी प्रयत्न न करके भगवद्भक्तों के स्थान में निवास करते हैं और वहाँ भगवत् रसिक भक्तों के मुख से स्वतः विनिःसृत आपकी और आपके प्राणप्रिय भक्तों की कथा को श्रवण करते हुये शरीर, मन एवं वाणी से नमस्कार करते हुये अपने जीवन को सुख से व्यतीत करते हैं, अर्थात् जिनके प्राण-प्रिय आपके तथा आपके भक्तों के चरित्र हैं, वे आपको आवश्य ही वश में कर लेते हैं, इसमें सन्देह नहीं ।

नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादं,

किन्वन्यदपितभयं भ्रुव उन्नयेस्ते ।

ये ऽङ्गत्वदिग्ब्रशरणा भवतः कथायाः,

कीर्तन्य तीर्थयशसः कुशलारसज्जाः ॥५॥

(३-१६-४८)

अब सनत्कुमार-वाक्य से यह कहते हैं कि कथा श्रवण सुख मोक्षानन्द से भी अधिक है, इसीलिए भगवान के भक्त ज्ञान में वृथा प्रयत्न नहीं करते हैं। हे परम प्रिय भगवन् ! जो आपके चरणों के शरणागत चतुर भक्त आपके कथामृतपान के रसिक हैं वे आपके प्रसाद स्वरूप मोक्षसुख को भी नहीं चाहते हैं जो कथायें परमानन्द दायक होने से गायन करने योग्य हैं एवं वासना सहित सर्व पापों को शमन करने वाले परम पावन यश से परिपूर्ण हैं। ऐसी कथाओं को छोड़कर फिर स्वर्गादिक लोकों में जिनमें आपकी वक्रटष्टु से ही नाश का भय है आपके भक्त उन स्वर्गादिकों का आदर कैसे कर सकते हैं ।

कोवा भगवतस्तस्य पुण्यश्लोकेऽचकर्मणः ।

शुद्धिकामो न शृणुयाद्यशः कलिमलापहम् ॥६॥

(१-१-१६)

अब श्रीशौनकादि वाक्य से यह वर्णन करते हैं कि श्री भगवान का कथा-श्रवण ही सर्व पाप पुङ्गों का प्रायश्चित्त है जिनका यश पापनाशक है, वे श्री ब्रह्मा तथा श्री महादेवादिक भी जिन प्रभु के चरित्रों की स्तुति करते हैं उन भगवान् हरि के कलिमलनाशन यश को पूर्णतया शुद्धि की चाहना करने वाला न सुनेगा ऐसा कौन अभागा है ?

प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम् ।

धुनोति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरत् ॥७॥

(२-८-१५)

इसी बात को दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं जैसे शरद-ऋतु जल की मलीनता को नष्ट कर देती है, ऐसे ही प्रेम-मूर्ति भक्तवत्सल श्री कृष्ण अपने प्रिय भक्तों के हृदय-सदन में कथा-श्रवण के द्वारा प्रवेश कर वासना सहित सर्व पापों को नष्ट करते हैं ।

अर्थात् जैसे कतकरेणु आदिक द्रव्य से घटादिक का जल तो शुद्ध हो जाता है, किन्तु नदी आदिक का जल शुद्ध नहीं हो सकता और मल भी घट के अन्दर ही रहता है। यत्किञ्चित् सञ्चालन करने से पुनः जल को मलीन कर देता है, किन्तु शरद-ऋतु तो सम्पूर्ण जलाशय आदिकों के मालिन्य को नष्ट कर देती है, तात्पर्य यह है कि दान तपादिक प्रायश्चित्त भी सब के पापों को सर्वथा नष्ट नहीं करते हैं, किन्तु थोड़े से ही पाप को

नष्ट करते हैं, उसमें भी किसी थद्वावान योग्य पुरुष के पापों को नष्ट करते हैं, श्री कृष्ण भगवान् तो वासना सहित सर्व पापों का नष्ट कर देते हैं, यहाँ पर यही विचित्रता है।

शुद्धिर्गां नतु तथेड्यदुराशयानं-
विद्याश्रुताध्ययन दानतपक्रियाभिः ।

सत्वात्मनामृषभते यशसि प्रवृद्धः-
सच्छ्रुद्धया श्रवण सम्भृतया यथास्यात् ॥८॥

(११-६-३)

इस श्लोक में देवताओं के वाक्य से उपरोक्त दृष्टान्त के तात्पर्य को वर्णन करते हैं—हे स्तुति करने योग्य परमश्रेष्ठ भगवन् ! जिन पुरुषों का मन दुष्ट वासनाओं से परिपूर्ण है, उनकी शुद्धि शास्त्र-अध्ययन तथा अर्थ-श्रवण एवं शास्त्र-ज्ञान, तप, दान और कर्मों से ऐसी नहीं हो सकती जैसी कि कथा आदिक के श्रवण से उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त, आपके यश में उत्तम श्रद्धा से पवित्रता होती है, इसलिये यह सत्य ही कहा है कि कलिमल हरण हरि के परम पावन यश को कौन नहीं सेवन करेगा ?

निवृत्ततर्पेरुपगोयमानाद्भूवौषधाच्छ्रोत्रमनोभिरामात् ।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात्पुमान्विरज्येतविनापशुद्धनात् ॥९॥

(१०-१-४)

प्रश्न—जो शुद्धि की चाहना करता है वही कलिमल नाशक हरिकथा को भले ही श्रवण करे, जीवन-मुक्त तो श्रवण करेगा ही नहीं ? क्योंकि वह तो कृतकृत्य है एवं संसार में आसक्त पुरुष भी नहीं सुन सकता है ? क्योंकि वह तो संसार विषय-सुख में निमग्न है तथा मोक्षेच्छु भी नहीं श्रवण कर सकता है, क्योंकि वह योगाभ्यासादिक में तत्पर रहता ? इसी का उत्तर देते हैं—जिन भगवद्गुणों की कथा को, सर्व तृष्णा से रहित जीवन-मुक्त मुनिगण आत्मानन्द से भी अधिक आनन्दमय समझ कर परम प्रेम से गान करते हैं और मोक्ष को चाहना करने वाले, जिन भगवद् गुणों की कथा को संसार रोग की औषधि समझ करके सेवन करते हैं एवं विषयी जन जिसको कर्णेन्द्रिय का और अर्थ विचार से मन का आनन्द देने वाला समझ कर परम

प्रेम से गान करते हैं और मोक्ष की चाहना करने वाले, जिन भगवद्गुणों की कथा को संसार-रोग की औषधि समझ करके सेवन करते हैं, एवं विषयी जन जिसको कर्णेन्द्रिय का और अर्थ विचार से मन का आनन्द देने वाला समझ कर परम प्रेम से गायन करते हैं।

उन ऐसी परमानन्द स्वरूप कथाओं का परित्याग करके चाण्डाल के बिना कौन मनुष्य उस भगवान् के परम पवित्र चरित्र से विरक्त होगा ? अर्थात् श्रवण न करेगा ।

कोनामतृप्येद्रसवित्कथायां महत्तमैकान्तपरायणस्य ।

नान्तं गुणानामगुणस्य जग्मुर्योगेश्वरायेभवपाद्ममुख्याः ॥१०

(१-१८-१४)

प्रश्न—क्यों जी ! मुमुक्षु तथा विषयानुरागी कथा को सुनें तो सुनें । किन्तु जीवन्-मुक्त को कथा श्रवण की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि वह तो सर्व बन्धनों से रहित तथा सदा तृप्त रहता है ?

उत्तर—जीवन मुक्त को भी कथा-श्रवण करना चाहिये क्योंकि कथा-श्रवण का आनन्द आत्मानन्द से विशेष है, जबकि ब्रह्मा और महादेव जिन योगेश्वरों में श्रेष्ठ हैं वे परम कृतार्थ योगेश्वर भी बड़े प्रेम से जिस भगवान् के दिव्यगुणों का वर्णन करते हैं तो भी उन गुणों के अन्त को नहीं प्राप्त होते हैं ऐसे महत्पुरुषों के प्राण प्यारे तथा प्राकृत गुण रहित भगवान् की कथा के श्रवण करने से कौन कथा रसिक तृप्ति को प्राप्त होगा ? अर्थात् जिसके हृदय में कथा-स्वाद आ गया है, वह अमृत रूप कथा के श्रवण से तृप्त नहीं हो सकता है ।

ज्ञानं यदाप्रतिनिवृत्तगुणोर्मिचक्र

मात्मप्रसाद उत यत्र गुणेष्वसङ्गः ।

कैश्चल्यसम्मत पथस्त्वथभक्तियोगः

कोनिवृत्तो हरिकथासु रत्ति न कुर्यात् ॥११॥

(२-३-१२)

इस प्रकार के अन्य भी कथा-श्रवण के गुणों का वर्णन करते हुये पूर्व कथित वार्ता को स्पष्टतया वर्णन करते हैं—

जिन हरि-कथाओं के श्रवण से रागादि जो माया-गुणों की तरङ्गें हैं उनकी निवृत्ति करने वाला ज्ञान प्रगट हो जाता है, एवं जिन कथाओं के श्रवण से ज्ञान के कारण आत्मा की प्रसन्नता उदय होती है और इस लोक तथा परलोक के विषयों से परम वैराग्य भी उत्पन्न हो जाता है, जिस भक्ति-मार्ग का नाम कैवल्य है, वह प्रेमभक्ति भी जिन कथाओं से हृदय में प्रगट हो जाती है, ऐसी परम शान्तिदायिनी कथाओं में, त्रय-ताप से पीड़ित हुआ कौतनुष्य प्रीति न करेगा ।

आयुर्हरति वं पुंसामुद्घन्नस्तं च यन्नसौ ।

तस्यर्ते यत्क्षणो नोत उत्तमश्लोकवार्त्तया ॥१२॥

(२-३-१७)

अब श्री शौनक वाक्य से, “जो कथा श्रवण नहीं करता है” उसकी निन्दा करते हैं यह सूर्य भगवान् उदय और अस्त होकर मनुष्यों की आयु को वृथा ही नष्ट करते हैं इसमें उतना ही समय सफल है कि जिस क्षण में हरि-चर्चा की गई हो अर्थात् वही समय सार्थक है जो कि भगवत्कथा-श्रवण करने में व्यतीत हुआ है ।

तरवः किन्न जीवन्ति भस्माः किन्नश्वसन्त्युत ।

न खाइन्ति न मेहन्ति कि ग्रामपश्चवोपरे ॥१३॥

(२-३-१८)

प्रश्न—क्यों जी भगवत्कथा के श्रवणादिक से जो विमुख है उनको उम्र का फल जीवित रहना आदिक ही क्यों न मान लिया जाय ?

वहाँ उत्तर देते हैं, कि जैसे मनुष्य जीते हैं, वैसे क्या वृक्ष जीवित नहीं रहते ? लोहार की धोंकनी क्या हमारे तुम्हारे समान श्वास नहीं लेती ? ऐसे ही ग्राम्य पशु कुत्ता, शूकर आदि क्या भोजन और भल त्याग नहीं करते ? यदि मनुष्य में भक्ति नहीं है, तो उन पशु आदिकमें और मनुष्य में कुछ भी अन्तर नहीं है । अर्थात् कथा श्रवण के बिना मनुष्य वृक्ष तथा धोंकनों और पशु के समान हैं ।

श्विड्वराहोष्टखरः संस्तुतः पुरुषः पशुः ।

नयत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः ॥१४॥

(२-३-१९)

पूर्वोक्त अर्थ को वर्णन करते हैं—कुत्ते जिस प्रकार प्रति द्वार पर धूमते हैं और गृहपति द्वारा ताड़ित होते हैं, ग्राम्य शूकरादि जैसे असार वस्तु ग्रहण करते हैं और ऊँट जैसे केवल कण्टक ही भोजन करता है, एवं गर्दभ जैसे केवल बोझा ही ढोता है, वैसे ही हरिभक्तिहीन मनुष्य, कुत्ते के समान सर्वत्र तिरस्कार पाता है, और शूकर के समान असार विषयों को ग्रहण करता है, तथा ऊँट के समान दुःखादि कण्टकों को भक्षण करता है, एवं गधे के समान केवल संसार के भार से क्लेश को प्राप्त होता है, अर्थात् जिसके कर्ण-विवरों में कभी भी भगवान् का नाम नहीं प्राप्त हुआ वह पुरुष पशु है, उसकी श्वानादिकपशु ‘अपना आचार्य समझकर’ इतुति करते हैं कि तुम मनुष्य होने से कथा श्रवण के अधिकारी होकर भी कथाश्रवण नहीं करते हो, इसलिए तुम हमारे समान ही पशु हो, किंतु बुद्धि तुम में हम पशुओं से अधिक है, इसलिए तुम पशुराज हो ।

तात् शोच्य शोच्यान्विदोऽनुशोच्येहरेः कथायां विमुखानघेन ।

क्षिणोतिदेवोऽनिमिषस्तु येषामायुर्वृथावादगति समृतीनाम् ॥१५॥

(३।१।१४)

इसलिये जो कथा से विमुख हैं वे परम शोचनीय हैं, यह श्री परमभक्त विदुरजी के वाक्य से वर्णन करते हैं, हा ! उन शोचनीय मूर्ख मनुष्यों के लिये, मैं शोक करता हूँ, जो अपने पापद्वयरूप कारण से हरिकथा से विमुख हैं, वे वृथा मन, वाणी और काया के व्यापारों में लगे रहते हैं, और उनकी आयु को भगवान् काल व्यथा ही नष्ट करते हैं । अब महात्मा उनका किस प्रकार शोच करते हैं, सो वर्णन करते हैं—उन अभागियों की न तो भगवत्कथा में ही प्रीति है, इसलिये उनसे पाप तो कुसङ्ग दशात् अवश्य ही होने की सम्भावना है, अतः नरक में भी उनको जाना ही नहीं चाहिए, हाय ! वे नरक में महान् दुःख पावेंगे, वे अमूल्य अवस्था को जो देव दुर्लभ है, वृथा खो रहे हैं, इस प्रकार आर्द्धचित्त-महात्मा संसारियों का शोक करते हैं ।

यन्न व्रजन्त्यद्यमिदोरचनानुवादा

च्छुष्वन्ति येऽन्यविषयाः कुकथान्तिधनीः ।

तास्तु श्रुता हतमग्नैर्भिरातसार

स्तांस्तान्त्क्षपन्त्यशरणेषु तमःसु हन्त ॥१६॥

(३-१५-२३)

उनकी अधोगति भी होती है, यह कहते हैं—

पाप नाशिनी भगवत् कथाओं को छोड़कर जो संसारी खोटी कथाओं को श्रवण करते हैं, उनकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, इसलिये वे भगवद्वाम को प्राप्त नहीं कर सकते और उन (संसारी) कथाओं को जो श्रवण करते हैं, उनके पुण्यों को वे असत्कथायें नष्ट कर देती हैं, और जहाँ कोई भी रक्षक नहीं है, ऐसे घोर नरकों में डाल देती हैं, अर्थात् भगवत्कथाओं को श्रवण करने वाले वैकुण्ठ को जाते हैं ।

पानेन ते देव कथासुधायाः

प्रवृद्धभक्त्या विशदाशया ये ।

वैराग्यसारं प्रतिलभ्य बोधं

यथाञ्ज्ञसान्वीयुरकुण्ठधिष्ठयम्॥१७॥

(६-५-४४)

हे देव ! जो मनुष्य आपके कथामृत का पान करते हैं, उनके हृदय में प्रेम-भक्ति अच्छी तरह बढ़ जाती है । उसी भक्ति से उनका हृदय निर्मल हो जाता है, और आपके सुन्दर रूप का स्वाद तथा जगत् से परम वैराग्य भी प्राप्त हो जाता है, और विना परिश्रम के ही आप के वैकुण्ठ को प्राप्त हो जाते हैं ।

ये तु त्वदीय चरणांबुजकोषगन्धं

जिद्रन्ति कर्णविवरःश्रुतिवातनीतम् ।

भक्त्या ग्रहोत्तरणः परया च तेषां

नापैषि नाथहृदयांबुरुहात्स्वपुं साम् ॥१८॥

(३-८-५)

जो कथा-श्रवण करते हैं, उनके हृदय में भगवान् सर्वदा ही विराज-मान् रहते हैं, इसलिये उनको यहाँ ही वैकुण्ठमुख प्राप्त हो जाता है, यही कहते हैं—

शास्त्र स्वरूप एवन ने आपके यशःस्वरूप चरण-कमल की सुगन्धि को जिनके समीप पहुँचा दिया है, और जो सत्कार पूर्वक कर्णस्वरूप नासिका से उसको सूघते हैं, अर्थात् श्रवण करते हैं उनके हृदय से आप निकल नहीं सकते, क्योंकि उन भक्तों की प्रेम भक्ति से आपके चरण-कमल बंध जाते हैं । और भक्ति-बन्धन को आप तोड़ नहीं सकते, इसलिये कथा-श्रवण करने वाले भक्तों को आप सदा ही दीखते रहते हैं ।

अयं त्वत्कथामृष्टपीयूषनद्यां
 मनोवारणः वलेशदावाग्निदग्धः ।
 तृष्णात्तोऽवगाढो न सस्मार दावं
 न निष्क्रामति ब्रह्मसम्पन्नदन्नः ॥१६॥
 (४-७-३२)

ब्रह्म में लीन जीव जिस तरह संसार के दुःखों को भूल जाता है और वहाँ से निरुलता नहीं है, हमारा मन स्वरूप हायो भी इसी तरह संसार को क्लेश रूप दावाग्नि से संतप्त होकर तथा तृष्णा (प्यास) से पोड़ित होकर आप की परम पवित्र कथा स्वरूप अमृत नदी में प्रवेश कर संसार संतापों को भूल-कर उस अमृत नदी से निकलना नहीं चाहता है, अर्थात् परमानन्द में मग्न होकर कथा श्रवण से नहीं हटता है ।

इस से यह दिखाया कि श्रवण-सुख तथा मुक्ति-सुख में कुछ भी भेद नहीं है ।

वरान्विभो त्वद्विरदेश्वराद् बुधः
 कथं वृणीते गुणविक्रियात्मनाम् ।

ये नारकाणामपि सन्ति देहिनां
 तानीश कैब्रत्यपते वृणे न च ॥२०॥

(४-२०-२३)

वास्तव में तो श्रवण-सुख मोक्ष से भी अधिक है, अब यह दिखाते हैं- हे विभो ! ब्रह्मादिक जो वर-दाता हैं उनको भी आप वर देते हैं, ऐसे आप से भी बुद्धिमान् मनुष्य वरों को क्यों माँगता है क्यों कि वे वर देहाभिमानियों के ही भोगने योग्य हैं । ये वर तो नारकीय कूकर-सूकर आदिक पशुओं को भी प्राप्त हैं, उन सूकरादि को कौन सा विषय सुख प्राप्त नहीं है ? और जीव यदि उन्हीं विषयों की चाहना करता है तो वह बुद्धिमान नहीं है, इसलिये हे मोक्षपति ! मैं उन वरों को आप से नहीं माँगता हूँ ।

तदप्यहं नाथ न कामयेकवचि

न यत्र युष्मच्छरणाम्बुजासवः ।

**महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो
विधत्स्व कर्णायुतमेषमेवरः ॥२१॥**
(४-२०-२४)

तो क्या मोक्ष चाहते हो ? नहीं, क्योंकि आपके परम-प्रिय भक्तों के हृदय से मुख द्वारा भरने वाला आपके चरण-कमल का यश स्वरूप मकरन्द जिस मोक्ष में नहीं है, ऐसा जो मोक्ष है उसको मैं कभी भी नहीं चाहता ।

तो क्या चाहते हो ? तब श्रीपृथु महाराज कहते हैं— उस यश के श्रवण के लिए मेरे सहस्र कर्ण बना दो ।

प्रश्न—ऐसा वर किसी ने भी नहीं माँगा है, विचार कर दूसरा वर माँगो ?

उत्तर—मुझे तो इसी वर की चाहना है ।

**स उत्तमश्लोकमहन्मुखच्युतो
भवत्पदाम्भोज सुधाकणानिलः ।**
**स्मृतिं पुनर्विस्मृततत्त्ववर्त्मनां
कुयोगिनां नो वितरत्यलं वरैः ॥२२॥**

(४-२०-२५)

प्रश्न—यदि मोक्ष को स्वीकार न करोगे तो सदा रागद्वेषादि से व्याकुल चित्त में श्रवण-मुख भी न होगा ?

उत्तर—हे उत्तम श्लोक भगवन् ! महत्पुरुषों के मुख से निकली हुई आपके चरण-कमल की सुधा-कण की पवन भी, अर्थात् अल्प भी यश-श्रवण तत्त्व-मार्ग को भूले हुये कुयोगियों को भी आत्म ज्ञान का दान करता है, इसलिए भक्तों में रागादिक की सम्भावना ही नहीं हो सकती । अतः हमको अन्य वरों की कोई भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि श्रवण-मुख में मोक्षादि सर्व सुख अन्तर्हित हैं ।

**यशः शिवं सुश्रव आर्यसङ्घमे
यहृच्छ्या चोपशृणोति ते सकृत् ।**

कथं गुणज्ञो विरमेद्विनायशं
श्रीर्यत्प्रवन्ने गुणसंग्रहेच्छया ॥२३॥

(४-२०-२६)

प्रश्न— श्रवण का फल तो मोक्ष है, उस फल को छोड़कर आप साधन में ही क्यों आग्रह करते हैं ?

उत्तर— हे मञ्जुलमय यश वाले भगवन् ! आपके कल्याणकारी यश को सत्पुरुषों के सङ्ग में जो एक बार श्रवण कर लेता है, वह यदि पशु न हो तथा आपकी कथा के गुणों को जानता हो तो उसका मन आपके यश-श्रवण से कभी नहीं हट सकता है और एक ही स्थान में सब गुणों को प्राप्त करने की इच्छा से लक्ष्मी भी आपके यश को प्रेम से श्रवण और गान करती हैं ।

तस्मिन्महन्मुखरितामधुभिञ्चरित्र
पीयूषशेषसरितः परितः स्वन्निति ।
ता ये पिवत्यविनुषो नृपगाढकर्णे
स्तान्नस्पृशन्त्यशनवृद्भयशोकमोहाः ॥२४॥

(४-२६-४०)

प्रश्न— यद्यपि भगवान् का यश ऐसा ही है, तो भी क्षुधातृषा तो प्राणी मात्र को संतप्त करते ही हैं, फिर भक्त को संतप्त क्यों न करेंगे, उनसे संताप प्राप्त होने पर श्रवण-सुख कैसे मिल सकता है, इस लिए मोक्ष ही श्रेष्ठ है ?

उत्तर— यह ठीक नहीं, क्योंकि सत्सङ्ग में महत्पुरुषों के मुख से निकली हुई भगवत् के चरित्र स्वरूप अमृत से परिपूर्ण तथा असार-अंश से रहित कथा रूप नदियाँ चारों तरफ बहती हैं ।

राजन् ! जो अत्यन्त तृषा (प्यास) से युक्त होकर कर्णों के द्वारा सावधानी से उन कथा-नदियों के चरित्र रूप जल को पीते हैं, उन भक्तों को भूख, प्यास, भय, शोक और मोहादि स्पर्श भी नहीं कर सकते हैं ।

एतैरूपद्वुतो नित्यं जीवलोकः स्वभावजैः ।
न करोति हरेन्द्रनं कथामृतनिधौ रतिम् ॥२५॥

(४-२६-४१)

यदि ऐसा है, तो सब लोग कथा को ही क्यों नहीं सुनते हैं? इसका उत्तर यह है कि—स्वभाव से उत्पन्न इन भूख-प्रासादिकों से सदा पीड़ित जीव-समूह हरि की कथा स्वरूप अमृत सागर में प्रीति नहीं करता है, अर्थात् जब तक किसी सत्पुरुष से कथा की महिमा को (न जान कर) श्रवण नहीं करता है, तभी तक क्षुधा, तृष्णादि उस जीव को पीड़ित करते हैं, और जब कथा-महिमा को जानकर श्रवण का अभ्यास करता है, तब कथा रस के स्वाद प्राप्त होने पर भूख आदिकों से दुःखी नहीं होता है।

नैषातिदुःसहा क्षुन्मांत्यक्तोदमपि बाधते ।
पिवन्तं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथामृतम्॥२६॥

(१०-१-१३)

पूर्वोक्त बात को श्रीपरीक्षितजी के अनुभव से दिखाते हैं—

यद्यपि यह क्षुधा अति कष्ट से सहनीय है और मैंने तो जल का भी त्याग कर दिया है, तो भी क्षुधा मुझे पीड़ित नहीं करती है। इसका कारण यह है कि मैं आपके मुखकमल से टपकते हुए हरि-कथा स्वरूप अमृत को पान कर रहा हूँ, अर्थात् मेरा जीवन श्रीहरि-कथा ही है। जिस समय हरिकथा बन्द हो जायगी, उसी समय मैं प्राणों को त्याग दूँगा।

तं भोपथातं प्रतिघन्तु विप्रा
गङ्गा च देवी धृतचित्तमीशो ।
द्विजोपसृष्टः कुहकस्तक्षको वा
दशत्वलं गायतविण्णुगाथाः ॥२७॥

(१-१६-१५)

कथा-रसिक मरण से भी भय नहीं करते हैं, अब यह कहते हैं—

हे विप्रो! मैं हृदय को ईश्वर में धारण करके अर्थात् चित्त को भगव-चरणों में लगाकर आपकी शरण में आया हूँ, यह आप जानें। और प्रवाह की अधिष्ठात्री देवता स्वरूप श्री गङ्गादेवी भी मुझको शरणागत समझें। ब्राह्मण का भेजा हुआ तक्षक अपने स्वरूप से अथवा कपट रूप से मेरे शरीर को अच्छी तरह इस लेवै, मुझे इस बात का कुछ भी भय नहीं है, और उसके

हटाने का मैं यत्न भी नहीं करूँगा । आप केवल भगवत्-चरित्रों का ही गान करते रहें, अर्थात् मुझे चरित्रों के श्रवण की अत्यन्त लालसा है ।

अन्येषां पुण्यश्लोकानामुद्दामयशसां सताम् ।
उषश्रुत्यभवेन्मोदः श्रीवत्साङ्कुस्य किं पुनः ॥२८॥

(३-१६-३४)

भगवत्-कथा-श्रवण से दुःखों की निवृत्ति होती है, यह कोई असम्भव बात नहीं, यह कैमुतिक न्याय से दिखाते हैं—

यदि उदार यश वाले पवित्र-श्लोक भक्तों की कथा के श्रवण करने से सर्व-संतापों की निवृत्ति होकर परमानन्द प्राप्त होता है, तो भगवान् की कथाओं के श्रवण से सर्व ताप-निवृत्ति होकर परमानन्द प्राप्त होगा, इसमें कहना ही क्या है ।

तस्मादीश कथां पुण्यां गोविन्दचरणाश्रिताम् ।

महापुण्यप्रदां यस्मात् शृणुज्व नृपसत्तम् ॥२९॥

उसी बात को उपसंहार-वाक्य से दिखाते हैं—

हे नृपसत्तम ! जिस कारण गोविन्द-चरणों के यश से युक्त कथा, संसार ताप निवर्तक महा पुण्य को देती है, इसलिये पुण्य स्वरूप भगवत्कथा को श्रवण करो ।

नानुतृप्ये जुषव्युष्मद्वचो हरिकथामृतम् ।

संसारतापनिस्तमो मर्त्यस्तत्तापभेजम् ॥३०॥

(११-३-२)

कथा में इसी महा पुण्य के प्रदातापन को जनक-वाक्य से वर्णन करते हैं—

संसार के तापों से निरन्तर तपा हुआ, तथा मरण-धर्म-बाला मैं उन तापों की औषधि हरि-कथामृत स्वरूप आपके वाक्य को सेवन करता हुआ तृप्त नहीं होता हूँ ।

संसारसिन्धुमतिदुस्तरमुत्तिर्षो
नन्धिः पुवोभगवतः पुरुषोत्तमस्य ।

लीलाकथारसनिषेवणमन्तरेण

पुंसोभवेद्विविधदुःखदवादितस्य ॥३१॥

(१२-४-४०)

पूर्वोक्त बात को स्पष्ट करते हैं—

अनेक प्रकार के दुःख स्वरूप महारोगों के संतापों से जो पीड़ित होकर सुगमता से ही अति दुस्तर संसार सागर के तरने की इच्छा करता है, उस मनुष्य के लिये पुरुषोत्तम भगवान् की अमृत रसायन औषधि स्वरूप लीलाकथाओं का जो निरन्तर सेवन है, उसके बिना और कोई भी नौका अर्थात् आश्रय नहीं है। इसजिए कथा-श्रवण ही करना चाहिये।

कुतोऽशिवं त्वच्चरणाम्बुजासवं

महन्मनस्तो मुखनिःसृतं ववचित् ।

पिवन्ति ये कर्णपुटैरलं प्रभो

देहं भूतां देहकृदस्मृतिच्छदम् ॥३२॥

(१०-८३-३)

प्रश्न—अज्ञान की निवृत्ति से संसार की निवृत्ति होती है, वह केवल कथा-श्रवण से ही कैसे हो सकती है?

उत्तर—उस अज्ञान की निवृत्ति का उपाय भी कथा-श्रवण ही है, यही कहते हैं—

प्रभो ! जो लोग जीवों के लिये देह के देने वाले अज्ञान का नाश करना चाहते हैं, अथवा शरीर-धारियों के शरीर की रचना करने वाले ईश्वर के अज्ञान को नष्ट करना चाहते हैं, वे लोग महत् जनों के मन से मुख के द्वारा निकलते हुए आपके यशःस्वरूप अमृत को कर्ण कटोरों में भरकर सत्कार पूर्वक पान करते हैं तो फिर उनका अकल्याण कैसे हो सकता है।

विभ्यस्तवामृतकथोदवहास्त्रिलोब्याः

पादादनेजसरितः शमलानि हन्तुम् ।

आनुश्रवंश्रुतिभिरङ्ग्रजमङ्गसङ्गैः

स्तीर्थद्वयं शुचिषदस्त उपस्पृशन्ति ॥३३॥

(११-६-१६)

प्रश्न—अज्ञान-निवृत्ति ज्ञान से होती है, कथा से कैसे हो सकती है ?

उत्तर—ठीक है, किन्तु निर्मल-हृदय में ही ज्ञान का उदय होता है और वह निर्मलता कथा से ही होती है, यही कहते हैं—

आपकी कथा स्वरूप अमृत-नदियाँ और आपकी चरणामृत स्वरूप गङ्गाजी त्रिलोकी के पाप नष्ट करने में समर्थ हैं; इसलिये जो शुद्धि की चाहना करते हैं, वे वेद-पुराणों में विराजमान आपके यश रूप तीर्थ को कानों से और शरीर के सङ्गादिक के द्वारा गङ्गाजी को सेवन करते हैं।

तव विक्रीडितं कृष्ण नृणां परम मङ्गलम् ।

कर्णपीयूषमास द्यत्यजन्त्यन्यस्पृहां जनाः ॥३४॥

(११-६-४४)

विचार करके देखा जाय तो कथा का श्रवण साक्षात् ही अज्ञान का नाशक है, यह श्रीउद्धव-वाक्य से वर्णन करते हैं—

हे कृष्ण ! आपकी लीला मनुष्य मात्र का परम मङ्गल करने वाली है और कानों के लिए सर्वोत्तम आनन्ददायक अमृत है। मनुष्य इसका स्वाद लेकर कलत्रादि एवं मोक्ष पर्यन्त की चाहना को भी छोड़ देता है। अमृत-रस के पान करने पर जिस तरह रसिक-जन कटु-रसों को छोड़ देते हैं, इसी तरह यहाँ भी समझना चाहिये ।

वयन्तिवह महायोगिन् भ्रमन्तः कर्मवर्त्मसु ।

त्वद्वार्त्या तरिष्यामस्तावकर्दुस्तरं तमः ॥३५॥

(११-६-४५)

हे महायोगिन् ! इस लोक के भीतर कर्मोपार्जित योनियों में भ्रमण करने वाले अर्थात् क्या कर्म हैं और क्या अकर्म हैं इत्यादि विचारों में चक्रकर खाते हुए आपके भक्तों की सभा में आपके चरित्रों के श्रवण से ही दुस्तर वासना युक्त अज्ञान को तर जायेंगे ।

तावत्कर्माणि कुर्वीत न निविद्येतयावता ।

मत्कथा श्रवणादौ वा श्रद्धा धावन्न जायते ॥३६॥

(११-२०-६)

प्रश्न—विचार पूर्वक कर्म, अकर्म का निर्णय करना चाहिये ?

उत्तर—जब तक स्वर्गादि से मनुष्य का चिंत विरक्त न हो जाय, तब तक स्वर्गादि फल-दायक कर्मों को करते रहना चाहिये, अर्थात् स्वर्गादिक फलों से विरक्त जीव नित्य-नैमित्तिक कर्मों का आचरण करे और सकाम-कर्मों का आचरण न करे, अथवा मेरी कथा और नाम के श्रवण, कीर्तनादि में जब तक श्रद्धा नहीं होती है, तब तक कर्मों का आचरण करे । यह भगवान् की आज्ञा है, इसलिये भक्त यदि कर्मों का आचरण न करे तो आज्ञा का उङ्ग-झूँन स्पष्ट दोष नहीं होता है ।

शाब्द के अर्थ में विश्वास का नाम श्रद्धा है । जो भगवत् के शरणागत नहीं हैं, उन्हीं को भय होता है और जो भगवत् शरणागत हैं, उनको किसी प्रकार का भय नहीं रहता, यह शास्त्र सिद्धान्त है । उस शास्त्र से उत्पन्न जो श्रद्धा है, उसका भगवत्-शरण में सदा रहना ही, पहिचान है ।

कर्मण्यस्मिन्ननाश्वाले धूमधूम्रात्मनां भवाम् ।

आपाययति गोविन्दपादपद्मासवं मधु ॥३७॥

(१-१८-१२)

इसी बात को शौनकादिकों के वाक्य से स्पष्ट करते हैं ‘यह यज्ञ निश्चय ही फल-दाता होगा’ ऐसा यज्ञ में विश्वास नहीं किया जा सकता, क्यों कि यज्ञ के किसीभी अंग की त्रुटि रह जाने से वह निष्फल हो जाता है इसलिए भक्ति ही एक ऐसा पदार्थ है कि अंग भङ्ग होने पर भी वह पूर्ण फल देने वाली होती है । ऐसी भक्ति को बढ़ाने वाले तथा प्रेम से मतवाला करने वाले गोविन्द-चरण-कमल के यश-स्वरूप मकरन्द का पान कराकर यज्ञ के धूम्र से धुँधले हुये शरीर वाले हमको आप कृतार्थ कर रहे हैं अर्थात् श्रीकृष्ण चरण-कमल-सुधा का पान कराकर हमको परमानन्दित कर रहे हैं ।

श्रुतस्य पुंसां सुचिरश्चमस्य

नन्वञ्जसा सूरिभिरीडितोऽर्थः ।

तत्तद्गुणानुश्रवणं मुकुन्द

पादारविन्दं हृदयेषु येषाम् ॥३८॥

(३-१२-४)

इसीलिये विवेकी पंडित जनों को, विद्या को सफल करने वाले हरि-कथा का ही श्रवण करना चाहिये, अब यह वर्णन करते हैं—

श्री गुरु-मुख से चिरकाल तक पढ़ने का फल विद्वानों ने यही वर्णन किया है कि—जिनके हृदय में भगवत्-चरण कमलों का वास है उनके मुखा-रविंद से भगवान् के गुणों का निरन्तर श्रवण करना चाहिये ।

छिन्नान्यधीरधिगतात्मगतिनिरीह
स्तत्तत्त्यजेऽच्छन्दिदं वयुनेन येन ।
तावन्नयोगगतिभिर्यतिरप्रभत्तो
यावद्गदाग्रजकथासुरतिज्ज्ञ कुर्यात् ॥३६॥

(४-२३-१२)

इस प्रकार योगियों का कर्तव्य ही कथा-श्रवण ही है अब यह कहते हैं श्री पृथमहाराज की देह में जो आत्म (मैं) बुद्धि थी वह भी दूर हो गई, क्यों कि उन्होंने उस समय आत्मा का साक्षात्कार भली भाँति कर लिया था, इसी-लिये वह चेष्टा रहित हो गये (अर्थात् योग के अभाव से प्राप्त जो अणिमादि सिद्धियां हैं उनकी भी स्पृहा नहीं की) उसके उपरान्त जिस ज्ञान से हृदय की गांठ जो देहाभिमान है उसे छिन्न किया था उस ज्ञान को भी त्याग दिया अर्थात् शुद्ध भक्ति में विघ्नकारक होने से ज्ञान से भी निस्पृह हो गये । सिद्धियों में जो राजा का मन लुभायमान नहीं हुआ सो कुछ आश्र्वय नहीं है क्योंकि उनकी हर कथाओं में दृढ़ प्रीति हो गई थी । योगियों को जब तक हरि-कथाओं में प्रीति नहीं होती तब तक योगमार्ग के पारदर्शी होने पर भी वे अज्ञान से मुक्ति नहीं पाते अर्थात् सिद्धि आदि तुच्छ पदार्थों में उनका मन चलायमान हो जाता है और वे मोक्ष को प्राप्त नहीं होते ।

तवकथामृतं तप्तजीवनं
कविभिरीडितं कल्पषापहम् ।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं
भुविगृणन्ति ये भूरिदाजनाः ॥४०॥

(१०-३१-८)

प्रश्न—कथा-रसिक अन्य पदार्थों की चाहना से रहित हो जाता है इसमें क्या कारण है ?

उत्तर - भगवत्-कथा श्रवण के तुल्य आनन्द, योगी को दूसरे पदार्थों में नहीं आता है इसीलिये अन्य पदार्थों से विरक्त हो जाता है अब यह गोपी वाक्य से दिखाते हैं—आपकी कथा अमृत है, देवलोक का अमृत तो कामादि का वर्द्धक है अतएव तापों का बढ़ाने वाला है और आपका कथामृत कामादि से तप्त जीवों के कामादिकों का नाश कर शीतलता को उत्पन्न करता है तथा ब्रह्म-ज्ञानी भी इस अमृत की स्तुति करते हैं, देवों का अमृत तुच्छ है ऐसा समझ कर उसकी बड़ाई नहीं करते और यह आपका कथामृत पापों को समूल नष्ट करता है, वह देवलोक का अमृत पुण्यों को नष्ट करता है यह अमृत श्रवण मात्र से मङ्गल का देने वाला है, और वह कर्मानुष्ठान से प्राप्त होकर जीव का मङ्गल करता है, यह अमृत आनन्दमय होने से शान्तिमय है और वह अमृत मतवाला (उन्मत्त) कर देता है इसलिये खराब है। और जो मनुष्य इस आपके कथामृत को यह समझ कर कि—‘यह कथामृत संसार में फैलकर जीवों को अमरपदवी जो मोक्ष है उसको प्राप्त करावे’ इसी इच्छा से जो गान करते हैं वे बड़े दानी हैं अर्थात् कथामृत के दाता के सदृश कोई भी दाता नहीं है।

नहि भगवन्नधटितमिदं त्वद्वर्णनान्नुणामखिलपापक्षयः ।

यन्नामसकृच्छ्रवणात्युक्तस्कोऽपि विमुच्यते संसारात् ॥४१॥

(६-१६-४४)

श्रवण के बराबर अन्य कोई भी सुलभ नहीं है इस विषय में हेतु कहते हैं—

हे भगवन् ! आपके दर्शनों से जीवों के समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं यह कोई अयुक्त नहीं है किन्तु युक्त ही है क्यों कि आपके नाम का एकबार श्रवण करने से ही चाण्डाल भी चाण्डालपन के दूर होने से शरीर सहित पवित्र हो जाता है अर्थात् संसार से छूट जाता है।

को नामलोके पुरुषार्थसारवित्

पुराकथानां भगवत्कथासुधाम् ।

आपीय कण्ज्ञलिभिर्भवापहा

महो विरज्येत विनानरेतरम् ॥४२॥

(३-१३-४६)

प्रश्न – पूर्व श्लोक से श्रवण सब को पवित्र करता है, यही सिद्ध होता है, और सब लाभों से अधिक श्रवण है यह तो उसमें आया ही नहीं ?

उत्तर - पुरुषों के चाहने योग्य जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और भक्ति है, इनमें श्रेष्ठ पुरुषार्थ भक्ति है ऐसा समझने वाला इस लोक में सिवाय पशु के और कौन है जो कि प्राचीन इतिहासों द्वारा श्रेष्ठ रूप से गाई गई संसार-चक्र को नष्ट करने वाली अमृतस्वरूप कथा को कर्णज्ञलियों से पान कर, उस से विरक्त होवेगा ।

तूनं दैवेन विहता ये चाच्युत कथासुधाम् ।

हित्वा शृण्वन्त्यसद्गाथाः पुरीषमिव विङ्गभुजः ॥४३॥

(३-३२-१६)

भगवत्कथाओं को छोड़कर जो असत्कथाओं का श्रवण करते हैं वे पशुओं में भी अधम हैं, यह कहते हैं—

विङ्गभोजी मूकर आदि जैसे उत्तम पदार्थों को छोड़कर अपने खाद्य पदार्थों को ही खाते हैं । ऐसे ही वे लोग हैं जो कि भगवत् की अमृतस्वरूप कथा को छोड़कर असत्कथाओं को सुनते हैं, उनको अभाग्यने मार दिया है ।

यस्तूत्तमस्तोकगुणानुवादः

संगीयतेऽभीक्षणममङ्गलधनः ।

तमेव नित्यं शृणुयादभीक्षणं

कृष्णेऽमलां भक्तिमभीप्समानः ॥४४॥

(१२-३-१५)

इसलिये असत्कथाओं को छोड़कर भगवत्कथाओं को ही श्रवण करना चाहिये, यह श्रवण ही परम भक्ति है, यह कहते हैं—

एक बार भी जो भगवद् गुणों का कथन किया जाता है, वह जीव के विघ्नों को बारंबार नष्ट करता है जिसको कृष्ण में निर्मल भक्ति की चाहना है, उसे भगवान् के गुणानुवादों का ही बारम्बार श्रवण करना चाहिये ।

इत्थं परस्यनिजवत्मंरिरक्षयाऽऽत्

लीलातनोस्तदनुरूपविडम्बनानि ।

कर्माणि कर्मकषणानि यदूत्तमस्य

श्रूयादमुष्यपदयोरनुवृत्तिभिर्छन् ॥४५॥

(१०-६०-४६)

जिसके हृदय में भगवत्सेवा की चाहना है, उसको चाहिये कि अपने धर्म-मार्ग के वचाने की कामना से जिसने लीलावतार प्रकट किये हैं उस यदूत्तम श्रीकृष्ण के वन्धन-कारी कर्मों के नाश करने वाले तथा कृष्ण-सद्वश अपारशक्ति वाले चरित्रों को-श्रवण करे ।

इति श्रवण-भक्ति निरूपण चतुर्थ-विरचनम्



कर्णीकन-भक्ति

(पंचम-विरचन)

अब पंचम विरचन में कीर्तन की महिमा को वर्णन करते हैं हरि-
कीर्तन सर्व धर्मों में श्रेष्ठ है, यह श्री नारदजी के वाक्य से वर्णन करते हैं—

इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा—

स्वष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धदत्तयोः ।

अविच्छ्युतोऽर्थः कविभिन्नरूपितो—

यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम् ॥ १ ॥

(१५-२२)

कवि लोगों ने पुरुष के तप, नित्य धर्म [वेद-पाठ] यागादिक, मन्त्र जप, प्रखर बुद्धि [वाणी बोलने में पटुता] ज्ञान, दानादिक का परम फल केवल एक हरि गुणों का वर्णन करना ही कहा है, अर्थात् जो भगवान के गुणों का निरन्तर वाणी के द्वारा कीर्तन (कथन) करता है, यही पुरुष के इन सब साधनों का नाश रहित फल है। जो कीर्तन करते हैं उन्होंने पूर्व जन्म में यह सब साधन अवश्य ही कर लिये हैं, और जो भगवान का कीर्तन नहीं करते हैं, उनके ये सब साधन फल-शून्य वृक्ष के समान व्यर्थ हैं।

मृषा गिरस्ताह्यसतीरसत्कथा

न कथ्यते यद् भगवानधोक्षजः ।

तदेव सत्यम् तदुहैव मङ्गलं

तदेव पुण्यम् भगवद्गुणोदयम् ॥ २ ॥

(१२-१२-४६)

जिस कथा में भगवान अधोक्षज की चर्चा नहीं, वह कथा असत् और मिथ्या है, जिस कथा में हरि के गुण वर्णन का प्रसङ्ग है वही सत्य है, वही भक्ति रत्नावली

पापों का नाश करने वाली है। उसी से भगवान के दिव्य गुणों का जीव में प्रकाश होता है।

तदेव रम्यं रुचिरम् नवं नवं तदेव शश्वः मनसो महेत्सवम् ।

तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते ॥३॥

(१२-१२-५०)

जो कि श्री भगवान् के यश का कीर्तन है, वही परम रमणीय और पल पल में नित्य नवीन है—

अर्थात् जैसे नवीन-नवीन वस्तुएँ रुचि को बढ़ाती हैं, ऐसे ही नवीन नवीन रुचि को बढ़ाने वाला है, तथा महान उत्सव स्वरूप है, अर्थात् सर्वदा मन में उत्सव का बढ़ाने वाला है और वही मनुष्यों के हृदय में रहने वाले शोक स्वरूप सागर को सुखाने वाला है। यहां पर कीर्तन को ही फज स्वरूप वर्णन किया।

आपश्चः संसृतिं धोरां यश्चाम विवशोगृणन् ।

ततः सद्यो विमुच्येत यद् विभेति स्वयं भयम् ॥४॥

(१-१-१४)

कीर्तन में ये गुण असम्भव नहीं हैं, क्यों कि नाम कीर्तन में मुक्ति भी हो जाती है यह वर्णन करते हैं— धोर संसार में डूबता हुआ पर-वश होकर भी जो भगवान् के नाम का कीर्तन करता है, वह संसार से उसी समय मुक्त हो जाता है, क्योंकि काल भी भगवान के नाम से डरता है।

न यद्वच्छिन्नपदं हरेर्थशो

जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हचित् ।

तद्वायसं तीर्थमुशन्ति मानसा

न यत्र हंसा निरमत्युशिक्षयाः ॥५॥

(१-५-१०)

जिस वाणी की चतुराई से श्री वासुदेव भगवान् का वर्णन नहीं किया जाता, वह व्यर्थ ही है, अर्थात् प्रलापमात्र है यह श्री नारदजी के वाक्य से वर्णन करते हैं—जिस कविता में कवि ने बहुत ही विचित्र शब्द रखे हैं,

किन्तु जगत् को पवित्र करने वाला श्री हरि का यश, नाम मात्र को भी नहीं गान किया है, वह कौओं के समान जो कामी हैं, उनका तीर्थ है, उस कविता रूपी तीर्थ में हंस जो भगवत् के प्यारे हैं वे रमण नहीं करते हैं क्यों कि वे महात्मा परम मनोहर परं-ब्रह्म में सदा निवास करते हैं।

तद्विवसर्गोजनताघविषुवो
यस्मन्प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि ।

नामान्यनन्तस्य यशोऽद्वितानिय
च्छृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः ॥६॥

(१-५-११)

जिस कविता में चतुराई से पदों का विन्यास न होने पर भी भगवत् का यश प्रधान रूप से गाया है, वह वाणी पवित्र है, यह वर्णन करते हैं—वह कविता सर्व जीवों के पापों का नाश करने वाली है जिसमें कि हरि-यश का वर्णन है यद्यपि उसमें शब्द सुन्दर नहीं हैं, तथापि हरि के यश से युक्त नाम रूप मणियों से जटित है, साधु लोग ऐसे ही काव्य का श्रवण करते हैं और गाते हैं तथा कीर्तन करते हैं।

ततोऽन्यथा किञ्चन यद्विवक्षतः
पृथग्दृशस्तकृतरूपनामभिः ।
न कहिचिक्कापि च दुःस्थितामति
र्लभेत वाताहत नौरिवास्पदम् ॥७॥

(१-५-१)

हरि-कीर्तन के बिना किसी का भी चित्त भगवान के सम्मुख नहीं हो सकता यह नारद जी के वाक्य से वर्णन करते हैं—जैसे पवन वेग से नौका हिलती रहती है, ऐसे ही जो भगवान के चरित्रों को छोड़, दूसरे पदार्थों की ओर दृष्टि डालता है, तथा संसारी पदार्थों का वर्णन करता है उसकी मति कहीं भी स्थिर नहीं होती है, कारण कि विषयों के ध्यान करने वाले और वर्णन करने वाले के हृदय में विषयों के नाम रूप प्रगट होकर बुद्धि को चंचल कर देते हैं।

प्रगायतः स्ववीर्याणि तीर्थपादः प्रियश्रवाः ।

आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि ॥८॥

(१-६-३४)

और हरि कीर्तन से तो शीघ्र ही परमानन्द स्वरूप भगवान् में बुद्धि स्थिर हो जाती है, यह वर्णन करते हैं—हे व्यास जी ! जिस समय मैं प्रेम से श्री हरि के पराक्रम का गान करता हूँ, उसी समय सर्व तीर्थ जिनके श्रीचरण में निवास करते हैं, तथा जिनकी कीर्ति परमानन्द मय है, वह भगवान् मेरे हृदय में प्रकट होकर ऐसे दर्शन देते हैं—मानो आवाज देकर बुला लिये हों ।

या याः कथा भगवतः कथनीयोरुक्तमणः

गुणकर्मश्रयाः पुस्मिः संसेव्यास्ताबुभूषुभिः ॥९॥

(१-१८-१०)

अब श्रीसूत वाक्य से कीर्तन का फल कहते हैं—जिनके पवित्र चरित्र कहने योग्य हैं उन भगवान की गुण कर्म के आश्रय भूत अर्यात् गुण और कर्मों से भरी हुई जो कथाएँ हैं, वे सब सत्प्रवृत्ति के चाहने वाले मनुष्यों के लिये सेवनीय हैं, अर्थात् उनका सेवन अच्छी तरह से उन मनुष्यों को करना चाहिये जो कि संसार भय से मुक्त होना चाहते हैं ।

एतन्निविद्यमानानामिच्छतामकुतोऽभयम् ।

योगिनां नृप निर्णीतं हरेनामानुकीर्तनम् ॥१०॥

(२-१-११)

इसी को श्रीशुक वाक्य से वर्णन करते हैं—

हे राजन् ! जिन लोगों को संसार से बैराग्य हो गया है, और जो अकुतोभय होना चाहते हैं, उन योगी लोगों के लिये हरिनाम कीर्तन करना ही मुख्य कर्तव्य है । यह सब शास्त्रों का निर्णय है, अर्थात् कामीजनों के मनो-रथ को पूर्ण करने वाला तथा मुमुक्षुओं को मोक्षदाता एवं ज्ञानी जो जीवन मुक्त हैं उनके ज्ञान का फल भी श्रीहरि के नाम का कीर्तन ही है और श्रीहरि नाम कीर्तन से ही सर्व भय दूर हो जाते हैं ।

एतद्वच्च तु रचितानां मात्रा स्पर्शं च्छथा मुहुः ।
भवसि धु पुषु वो दृष्टो हरिचर्यानुवर्णनम् ॥११॥

(१-६-३५)

जो विषय वास्तवाओं में बंधे हुए हैं, उनका मोक्ष भी श्रीहरि-कीर्तन से ही होता है, यह कहते हैं—

विषय भोग की इच्छा से जिनका चित्त बारम्बार आतुर है, उनके उद्धार के लिये श्रीहरि-चरित्रों का निरन्तर वर्णन करना ही संसार सागर से पार करने के लिये जहाज है, यह श्रुति और अनुभव से ज्ञात हुआ है ।

यस्यावतारगुणकर्मविडम्बनानि,
नामानि येऽसुविगमे विवशागृणन्ति ।
तेऽनेकजन्मशमलं सहसैवहित्वा
संयान्त्यपावृतमृतं तमजं प्रपद्ये ॥१२॥

(३-६ १५)

सर्वदा कीर्तन करने की बात तो रहने दीजिये, किन्तु अन्त काल में तथा एक बार भी किया हुआ कीर्तन मोक्ष का दान करता है यह श्री ब्रह्माजी के वाक्य से प्रतिपादन करते हैं—

जिनके अवतार गुण और कर्मनुरूप नामों को अर्थात् भगवान् के अवतार लेने से जो कृष्ण, राम, नारायण, नृसिंह आदिक नाम हैं, और गुणों से जो दयालु, दीनबन्धु, दामोदर, भक्तवत्सल आदिक नाम हैं, और कर्मों के करने से गोविन्द, गिरिधर, कंसारि, मधुसूदन इत्यादिक जो नाम हैं इनका जो लोग अजामिल की तरह इच्छा के बिना भी प्राण निकलते समय विवश होकर उच्चारण करते हैं, वे सहसा अनेक जन्म जन्मान्तर के पापों को त्याग कर माया के प्रभाव से रहित सविदानन्दस्वरूप भगवान् को प्राप्त होते हैं, जिस भगवान् के नामों में यह सामर्थ्य है उन अजन्मा ईश्वर के मैं शरणागत हूँ ।

अयं हि कृतनिर्वेशो जन्मकोटचं हसामपि ।
यद्वयाजहार विवशो नाम स्वस्त्ययनं हरेः ॥१३॥

(६-२-७)

इसी बात को विष्णु दूतों के वाक्य से प्रदर्शन करते हैं—

इस अजामिल ब्राह्मण ने परवश होकर भी हरि का नाम मुख से कहा है,

इसलिए इसने करोड़ों जन्मों के पापों का प्रायश्चित्त कर दिया, अर्थात् जिस एक जन्म के अधों के फल भुगाने को नरक में लेजाते हो, उस एक जन्म के पापों के नाश होने की बात को हम क्या कहें ? इसने तो हरि-नाम के प्रताप से करोड़ों जन्मों के पाप नष्ट कर लिए, हरि नाम केवल पापों को ही नष्ट नहीं करता है, किन्तु संसार सागर से भी पाप कर देता है।

एतेनैव ह्यघोनोऽस्य कृतं स्यादद्यनिष्कृतम् ।

यदा नाराणायेति जगाद् चतुरक्षरम् ॥१४॥

(६-२-८)

इस पापिष्ठ ने जो “नारायण ! आ ”ऐसे चार अक्षर बाले नामाभास का उच्चारण किया, इसी के द्वारा यह पाप मुक्त हो गया, अर्थात् इस पापी के सब पाप नष्ट हो गये ।

स्तेनः सुरापो मित्रध्रुव्यहृष्टुरुत्पगः ।

स्त्रीराजपितृगोहन्ता ये च पातकिनोऽपरे ॥१५॥

सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम् ।

नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तट्टिष्यामतिः ॥१६॥

(६-२-६, १०)

प्रश्न—क्यों जी ! इसने बहुत महान् पाप अपनी इच्छा से किये और हजारों बार लौट २ कर पुनः वे ही पाप किये, उनका नाश बड़े २ प्रायश्चित्तों से भी नहीं हो सकता है, किर केवल नाम से ही कैसे हो जावेगा ?

उत्तर—चोर, शराब पीने वाला, मिल-द्वोही, ब्रह्म-हत्यारा गुरु पत्नी से दुराचरण करने वाला और खी, राजा, पिता तथा गौ इनकी हत्या करने वाला एवं इससे भिन्न जितने दूसरे प्रकार के पापी हैं, उन सब पापियों के पापों का यह हरि नाम ही सुन्दर प्रायश्चित्त है, क्यों कि नाम के उच्चारण करते ही नाम के कहने वाले पर भगवान् की बुद्धि ऐसे गिरती है, कि ‘यह मेरा नाम ले रहा है, इसलिए इस की रक्षा मुझे सर्व भयों से करनी चाहिए । और यह नियम भी है कि जो किसी का नाम लेता है उसके ऊपर नाम वाले की दृष्टि अवश्य ही पड़ती है, जैसे किसी का नाम देवकीनन्दन है, हमने उसको ‘अजी देवकीनन्दन जी !’ ऐसा कह कर पुकारा, वस अपने नाम को श्रवण करते ही ‘देवकीनन्दन’ हमारी ओर देखने लग पड़ता है । जिन में ज्ञान है

वे पशुपक्षी आदिक भी अपने नाम लेने वाले को देखने लग जाते हैं, भगवान् तो सर्वज्ञ हैं, वे अपने नाम लेने वाले की ओर अपने कृपादृष्टिपात को क्यों नहीं करेंगे ? इन भगवान् की जो दृष्टि है वह कृपा से परिपूर्ण है । तथा जीव के कल्याण का निदान (आदि कारण) है । जो जितना बड़ा है, उसका नाम भी उतना ही बड़ा होता है, लक्षाधीश अपने नाम की हुंडी, अपनी शक्ति के अतिरिक्त नहीं कर सकता । जब कि काम में कुछ सामर्थ्य है, तभी तो बादशाह के नाम की छाप से, नोट सहस्रों तथा लक्षों रूपयों में चल रहे हैं । जबकि बादशाह के नाम का इतना मूल्य कोटानुकोटि ब्रह्माण्डों के नायक भगवान् के नाम का कितना मूल्य होगा, यह बुद्धिमानों का विचारणीय विषय है ।

न निष्कृतैरुदितैर्बहुवादिभिस्तथा,
विशुद्धचत्यघवान् व्रतादिभिः ।
यथा हरेनर्मिपदैरुदाहृतै
स्तदुत्तमश्लोकगुणोपलम्भकम् ॥१७॥

(६-२-११)

मनु आदिक मुनियोंने पापों के नाश करने के लिये कृच्छ्रचान्द्रायणादिकव्रत विधान किये हैं, उनके करने से पापी ऐसा शुद्ध नहीं हो सकता है, जैसा कि श्री हरिनामके कीर्तन से पवित्र होता है । वे कृच्छ्रचान्द्रायणादिक व्रत तो केवल पापों को ही नष्ट करके शान्त हो जाते हैं, और यह भगवान् का नाम तो भगवान् तथा उनके दिव्य-गुणों का साक्षात् दर्शन तथा अनुभव करा देता है ।

नैकान्तिकं तद्विकृतेऽपिनिष्कृते
मनः पुनर्धावितिचेदसत्पथे ।
तत्कर्म निर्हारमभीप्सतां हरे
गुणानुवादः खलु सत्वभावनः ॥१८॥

(६-२-१२)

प्रायश्चित के करने पर भी मन फिर पाप की ओर ढौँडता हुआ देखा जाता है, इसलिए व्रतादिक यथार्थ रूप से मन को परम-पवित्र नहीं कर सकते हैं । इसलिए जिनके मन में पूर्ण रूप से अपने पापों को निर्मूल करने

की इच्छा है, उनके लिए श्री हरि गुणों का निरन्तर कथन करना ही उत्तम प्रायश्चित है, क्यों कि श्रीहरि के गुणों का कीर्तन हृदय की वासना तक को नष्ट कर देता है, और वासना ही तो सर्व पापों की जड़ है।

अर्थैनं सापनयत कृताशेषाघनिध्कृतम् ।

यदसौ भगवन्नाम म्रियमाणः समग्रहीत् ॥१६॥

(६-२-१३)

अब भगवत्पार्षद कहते हैं कि---हे यमदूत गण ! इस अजामिल ने मरण समय में भगवान् का नाम साक्षात् स्पष्ट मुख से उच्चारण किया है, और पुत्र के नामकरण-समय में ही इसके सर्व पापों का नाश करने वाला प्रायश्चित भी हो गया है, इसलिए इस निष्पाप अजामिल को न ले जाइये अब तुम्हारा अधिकार इस पर नहीं रहा। देखो नाम के एक अंश के उच्चारण करने से भी जीव नरक में नहीं जा सकता, उमने तो 'नारायण' यह सम्पूर्ण भगवन्नाम अपने मुख से उच्चारण किया है, भला फिर विचारिये तो सही, ये विचारा कैसे नरक में जाने योग्य है ? मरण-काल में कहने का अभिप्राय यह है कि नाम के प्रताप से पहले सर्व पाप तो इसके नष्ट हो गये, और नवीन पाप इस विचारे ने किये ही नहीं हैं, इसलिए इस दीनात्मा को मत ले जाओ।

साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेववा ।

वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः ॥२०॥

(६-२-१४)

किस प्रकार का उच्चारण किया हुआ नाम सर्व पापों को नष्ट करता है, यह दिखाते हैं कि आज से हमारे पुत्र का नाम 'नारायण' रखा गया, इसलिए इसका नाम नारायण है। ऐसे नाम को 'संकेतनाम' कहते हैं एवं प्रेम पूर्वक जिस नाम की हँसी की जाती है, वह 'पारिहास्य' नाम है। यथा---हे विख्यात कीर्ति वाले श्री कृष्ण नाम ! हमने तेरी कीर्ति जान ली, क्यों कि तुम मेरा भी उद्धार न कर सके। कथा या गीत तथा आलापादि के पूर्ण करने के लिए जो नाम उच्चारण किया जाता है, वह 'स्तोभ' है। यथा---बहुधा व्रजवासी जन अपने गानके पदपूर्ति में कहा करते हैं कि---हरे हरे जी हरे हरे एवं जिसका यह स्वभाव हो गया है कि मुख से विना परिश्रम अर्थात् स्वभाव से ही नाम निकलता रहता है, वह हेलन-नाम है इन प्रकारों से जो नाम उच्चारण करता है, उनके वासना सहित सर्व पापों को भगवान् हरि का नाम हरण कर लेता है।

पतितः स्खलितो भग्नः सन्दृष्टस्तम् आहृतः ।
हरिरित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाम् ॥२१॥

(६२१५)

प्रश्न—क्यों जी ! “भगवान् का नाम मृत्यु-समय में अवश्य ही स्मरण तथा उद्वारण करना चाहिये” अजामिलने इस प्रकार संकल्प करके भगवन्नाम को उच्चारण नहीं किया किन्तु पुत्र-स्नेह की फाँस में फँस कर कहा है । अतः यहाँ पर नाम उच्चारण तो किया, किन्तु विवशता प्रयुक्त हुआ । पूर्व कथित सांकेत्यादि पाँच प्रकार के उच्चरित नामों से यह पृथक् है, इसीलिये हम इस पापात्मा को अवश्य यमपुरी ले जावेंगे ? इस प्रकार प्रश्न करने पर भगवत्पार्षद उत्तर देते हैं कि—जो पुरुष गृहादिक ऊँचे स्थान से पतित होता हुआ अथवा मार्ग में ठोकर लग कर गिरता हुआ, अथवा संग्राम-भूमि में शरीर के कट जाने पर, अथवा सर्पादिक के दंशन करने पर, अथवा ज्वरादिक से पीड़ित होने पर, अथवा लाठी आदि के प्रहार करने पर ‘हरि’ ऐसे भव-भयहारी नाम को स्नेह अथवा भय आदि के परवश होकर भी कहता है, वह कदापि नरकों में नहीं जा सकता ।

गुरुणाश्च लघूनाश्च गुरुणि च लघूनि च ।
प्रायश्चित्तानि पापानां ज्ञात्वोक्तानि महर्षिभिः ॥२२॥
तैस्तान्यधानिपूयन्ते तपोदानव्रतादिभिः ।
नाधर्मजं तद्वदयं तदपीशाङ्गिन्सेवया ॥२३॥

(६२१६-१७)

प्रश्न—क्योंजी ! “जितना बड़ा पाप होता है, उसके लिये उतना ही बड़ा प्रायश्चित हुआ करता है, एवं छोटे पाप के लिए छोटा प्रायश्चित हुआ करता है, यह शास्त्र का नियम है” । पुनः यह छोटा-सा नाम ‘नारायण’ महान्-महान् पापों को कैसे नष्ट कर सकेगा ? इसी का उत्तर देते हैं कि महर्षियों ने धर्म-शास्त्रानुसार विचार करके लघु तथा गुरु-पापों के प्रायश्चित्त क्रम से लघु-गुरु कहे हैं, सो ठीक ही है । धर्म-शास्त्र में ऐसी ही व्यवस्था है, परन्तु श्रीहरि-नाम में यह व्यवस्था नहीं घट सकती है, क्योंकि “मुच्यते सर्व पातके” नाम का लेने वाला सर्व पातकों से मुक्त हो जाता है, यह वचन यह कहता है कि “भगवान्नाम सर्व पापों को नष्ट करता है” यथा—शराव एक

बूँद भी यदि पान करली जावे, तो मनुष्य को महापातकी बना देती है इस में सन्देह नहीं। इसी प्रकार भगवान् का छोटा सानाम भी सर्व पापों का प्रायश्चित्त है।

जो दान, तप और व्रतादिक, जिन-जिन पापों के नष्ट करने के लिये शास्त्र से विधान किये हैं, वे दानादिक उन पापों को तो नष्ट कर देते हैं, किन्तु पापों के करने से हृदय में जो पापों की वासना रह गयी थी, उसको नष्ट नहीं कर सकते। उन पापों की वासना भगवान् के श्री चरण कमल की सेवा से नष्ट हो जाती है। यहाँ प्रकरण नाम कीर्तन का है। अतः श्रीचरण सेवा का अर्थ प्रकरणसार-नाम कीर्तन है। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे प्रथम ही प्रकट जो दीपक की शिखा (ज्योति) है, वह महान् अन्धकार को एक साथ ही नष्ट कर देती है। ऐसे ही एक बार भी कीर्तन किया हुआ हरि का नाम बड़े-बड़े पापों को नष्ट करता है। बारम्बार नाम-कीर्तन से फिर दूसरे पापों के उत्पन्न होने की सम्भावना ही नहीं रहती। जैसे दीपक की शिखा के रहने से दूसरे अन्धकार की उत्पत्ति नहीं हो सकती, इसी प्रकार नाम-कीर्तन की ध्वनि के ध्वनित होने पर, तथा हृदय-रूपी सदन में प्रकाश होने पर अन्धकार स्वरूप पाप-वासना भी दूर हो जाती है, इसीलिये सत्य कहा है कि “पापक्षयश्च भवति स्मरतां तमर्हनिशम्” अर्थात् जो भगवान् के पाद पद्मों के अहोरात्र स्मरण करने में निरत हैं, उनके सम्पूर्ण पाप अवश्य ही नष्ट हो जाते हैं।

अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनामयत् ।

संकीर्तितमधं पुँसो दहेदेधो यथानलः ॥२४॥

(६-२-१८)

प्रश्न क्योंजी ! अजामिल ने “भगवान्नामोच्चारण सर्व पापों का प्रायश्चित्त है” ऐसे ज्ञान से तो कीर्तन नहीं किया है, फिर इसके पाप कैसे क्षय हुए ? तहाँ उत्तर देते हैं कि, जैसे बालक न जानकर अग्नि को काष्ठों में फेंक दे, अथवा ज्ञान से ही फेंक दे, अग्निदेव तो सम्पूर्ण काष्ठों को भस्मीभूत कर ही देता है। ऐसे ही है प्रियजनो ! जो पुरुष नाम की महिमा जानकर अथवा न जानकर भी भगवान्नाम का कीर्तन करेगा, उसके सम्पूर्ण पापों को हरि-नाम अग्नि की तरह अवश्य ही भस्मीभूत कर देगा, इसमें सन्देह नहीं।

यथागदं वीर्यं तमसुपयुक्तं यदृच्छया ।

अजानतोऽप्यात्मगुणं कुर्यान्मन्त्रोऽप्युदाहृतः ॥२५॥

(६-२-१६)

गुरुओं ने अपने मुखारविन्द से शास्त्र-विधि के अनुसार दीक्षा-रूपेण जिस नाम का उपदेश नहीं किया, अथवा जो बिना श्रद्धा से कहा गया है, वह नाम पापों का कैसे प्रायश्चित्त हो सकता है ? तहाँ समाधान करते हैं कि जैसे सर्वरोग-नाशक जो औषध है, वह यदि बिना जाने अथवा बिना विश्वास भी दैवयोग से भोजन कर ली जावे, तो वह अपने सर्व रोग नाशक गुणों को न त्यागकर सर्व रोगों को अवश्य ही नष्ट कर देती है, ऐसे ही बिना विश्वास तथा बिना जाने भी जो भगवान् का नाम मुख से उच्चारण किया जाता है, वह अपने सर्व पाप-नाशक गुण को कर ही देता है, क्योंकि पदार्थ की जो स्वाभाविक शक्ति है, वह अपने कार्य करने में ज्ञान और श्रद्धा आदिक की वाट नहीं देखती है ।

एवं स विष्णुवितसर्वधर्मा

दास्याः पतिः पतितो गर्ह्य कर्मणा ।

निपात्यमानो निरये हृतव्रतः

सद्यो विमुक्तो भगवन्नाम गृह्णन् ॥२६॥

(६-२-४५)

इस तरह जिस अजामिल ने अपने सर्व वर्णश्रिम धर्म नष्ट कर दिये हैं, तथा दासी का स्वामी बन गया है, अतएव निन्दित-कर्म करने से पतित हो गया है और एकपत्नी-ब्रत का नियम जिसका छूट गया है, इसी कारण यम-दूतों से नरक में गिराया जा रहा जो अजामिल वह भगवन्नाम वा उच्चारण करते ही जीवन्मुक्त हो गया ।

नातः परं कर्मनिवन्धकृत्तनं

मुमुक्षतां तीर्थपदानुकीर्तनात् ।

न यत्पुनः कर्मसुसज्जतेमनो

रजस्तमोऽप्यां कलिलं ततोऽन्यथा ॥२७॥

(६-२-४६)

जो संसार-बंधन से छूटना चाहते हैं, उनके लिए कर्म की जड़ को काटने वाले इस भगवत्कीर्तन से अधिक और कोई भी उपाय नहीं है। कीर्तन के प्रभाव से मन पाप-कर्मों में आसक्त नहीं होता है। और जो कीर्तन को छोड़कर पाप-नाशक अन्य प्रायश्चित्तों को करते हैं, उनका मन रजोगुण एवं तमोगुण से मलीन ही बना रहता है, इसलिये उनका मन फिर भी पाप-कर्मों में ही आसक्त हो जाता है।

म्रियमाणो हरेनामि गृणन्पुत्रोपचारितम् ।

अजामिलोऽप्यगाढ्वाम किमुत श्रद्धयागृणन् ॥२८॥

(६-२-४६)

इसमें असम्भवता को दूर करते हैं—जब कि महापापी अजामिल भी पुत्र के उपचार से वाणी द्वारा हरि-नाम को कह कर हरि के धाम को प्राप्त हुआ, फिर जो मनुष्य श्रद्धा से साक्षात् हरि के नाम का कीर्तन करेगा, उसको परम धाम की प्राप्ति हो, इसमें तो कहना ही क्या है।

नामोच्चारणमाहात्म्यं हरेः पश्यत पुत्रकाः ।

अजामिलोऽपि येनैव मृत्युपाशादमुच्यते ॥२९॥

[६-३-१३]

यमराज कहते हैं—हे पुत्रो ! भगवान्नाम के उच्चारण-महत्व को देखो जिस भगवन्नाम के केवल एक बार के उच्चारण से ही महापापी अजामिल भी संसार-फाँस से छूट गया इसमें किसी प्रमाण की भी आवश्यकता नहीं है क्योंकि तुमने तो साक्षात् देखा ही है।

एतावतालमखनिर्हरणाय पुँसां

संकीर्तनं भगवतो गुण कर्मनास्नाम् ।

विकुश्य पुत्रमघवान् यदजामिलोऽपि

नारायणेति म्रियमाण इयाय मुक्तिम् ॥३०॥

(६-३-२४)

हरि का नाम सर्व पुरुषार्थों की प्राप्ति में अन्य किसी भी साधना की सहायता नहीं चाहता, अब यह कहते हैं कि—हरि के गुण, कर्म और नामों का शास्त्रों में जो अच्छी तरह श्रद्धा और भक्ति से सङ्कीर्तन कहा है, इसका

तात्पर्य यह नहीं समझना कि वह पापों के नाश के लिए कहा है अर्थात् पाप-नाश के लिए तो सङ्कीर्तन को आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि अजामिल ने सङ्कीर्तन नहीं किया, किन्तु हरि-नाम को चिल्ला कर कहा था, वह भी पुत्र को पुकारा था न कि हरि को पुकारा हो और वह अजामिल अत्यन्त अपवित्र था, अतएव मरणासन्न होने पर उसका चित्त भी स्थिर नहीं था, इस तरह पुकारे हुये नाम से वह मुक्ति को ही प्राप्त हुआ न केवल पापों का ही नाश हुआ हो, जो भगवन्नाम मुक्ति को दे सकता है वह धन कामादि के देने में कुछ भी असमर्थ नहीं है ।

प्रायेण वेद तदिदं न महाजनोऽयं
देव्याविमोहितमतिर्वतमाययालम् ।

त्रयां जडीकृतमतिर्मधुपुष्पितायां
वैतानिके महति कर्मणि युज्यमानः ॥३१॥

[६-३-२५]

यदि नाम की महिमा ऐसी ही है तो मनु आदिकों ने जो बड़े बड़े प्रायश्चित कहे हैं वे सब व्यर्थ हो जायेंगे, क्योंकि भगवन्नाम सुगम उपाय है, उससे पाप नष्ट हो ही जायेंगे ? इसका उत्तर यों है—स्वयम्भू आदि द्वादश-महाजनों को छोड़ कर अन्य जो धर्म-शास्त्र के रचयिता हैं, प्रायः वे इस गूढ़-धर्म को नहीं जानते हैं। इसीलिये उन्होंने नाम-कीर्तन का उपदेश नहीं किया भगवान् की माया देवी बड़ी दुस्तर है, यह महाजनों की बुद्धि को भी मोहित कर लेती है इसीलिये इस गूढ़-धर्म को वे न समझ सके, अर्थ-वादों के द्वारा मन को हरण करने वाली कर्मकाण्ड की मधुपुष्पिता-वाणी में ही संसारी जीवों की बुद्धि आसक्त हो जाती है तथा लम्बे-चौड़े कर्मों में ही जीवों की प्रीति होती है ऐसा समझ कर ही नाम-महिमा के ज्ञाता मनु आदि ने भगवन्नाम का उपदेश नहीं किया है और प्रायः संसार में भी देखा जाता है कि जड़ी आदि जो बिना मूल्य के पदार्थ हैं उनमें मनुष्य का प्रेम नहीं होता और जिसमें अधिक द्रव्य खर्च हुआ है उसमें प्रीति होती है ।

एवं विमृश्य सुधियो भगवत्यनन्ते
सर्वात्मना विदधते खलु भावयोगम् ।

ते मे न दण्डमर्हन्त्यथ यद्यमीषां

स्यात्पातकं तदपि हन्त्युरुग्यायवादः ॥३२॥

(६-३-२६)

सुन्दर बुद्धि वाले जन इस प्रकार नाम की महिमा को समझ कर अनन्त-भगवान् में भक्ति-योग को ही करते हैं, उनको मैं (यमराज) दण्ड नहीं दे सकता हूँ, वे पातक तो करते ही नहीं हैं, यदि कोई पातक भूल से बन भी जाय तो उसको भगवद्-कीर्तन ही नष्ट कर देता है ।

अथापि मे दुर्भगस्य विबुधोत्तमदर्शने ।

भवितव्यं मङ्गलेन येनात्मा मे प्रसीदति ॥३३॥

(६-२-३२)

और जो यह कहा कि द्वादशाव्दिक आदि ब्रत अत्यन्त परिश्रम से सिद्ध होते हैं इसीलिये वे श्रेष्ठ प्रायश्चित हैं नामोच्चारण तो बहुत सहज है अतः वह प्रधान प्रायश्चित नहीं हो सकता ?

यह ठीक नहीं, क्योंकि नाम का उच्चारण वही पुरुष कर सकता है जिसने अनेक जन्मों में हजारों पुण्य एकत्रित किये हों यह अजामिल के वक्य से दिखाते हैं—

यद्यपि इस जन्म में मैं महापापी हूँ तो भी देवताओं से उत्तम जो भगवत्पार्षदों का दर्शन हुआ है उसका कारण कोई पूर्व जन्म का महान भाग्य उदय हो गया है ऐसा समझना चाहिये उनका दर्शन ऐसा आनन्द-दायक हुआ कि अभी तक मेरे मन में आनन्द भरा हुआ है ।

अन्यथा स्रियमाणस्य नाशुचेवृष्टलीपते: ।

वैकुण्टनामग्रहणंजह्वा ववतुमिहार्हति ॥३४॥

(६।२।३३)

यदि पूर्वकृत कोई पुण्य न होता तो मुझ मरते हुये शूद्रा के पति महापापी की जिह्वा मरते समय भगवान् को वश में करने वाले भगवन्नाम को न कह सकती ।

क चाहं कितवः पापो ब्रह्मणोनिरपत्रपः ।

कव च नारायणेत्येतद्वगवन्नाममङ्गलम् ॥३५॥

(६-२-३४)

मूर्ख तथा पापी और अपने ब्राह्मणपन का नाश करने वाला निर्लंज भी कहाँ ? और मङ्गल करने वाला यह भगवान् का नारायण नाम कहाँ, अर्थात् ऐसे मुझ महापापी के मुख से अन्त समय में भगवन्नाम-कीर्तन पूर्व महान् भाग्य के बिना नहीं निकल सकता है ।

ब्रह्महा पितृहा गोधनो मातृहाचार्यहाघवान् ।

श्वादः पुलकशको वापि शुद्धयेरन् यस्यकीर्त्तनात् ॥३६॥

(६१३३८)

जिस भगवत्कीर्तन में ब्रह्म हत्यारा पिता की हत्या करने वाला, गौ को मारने वाला, माता का हत्यारा और गुरु की हत्या करने वाला पापी तथा चाण्डालादि पाप जाति भी शुद्ध हो जाते हैं इसलिए भगवन्नाम का मुख से जो उच्चारण है वह अनेकों जन्मों के पुण्यों से हुआ है अतः अत्यन्त परिश्रम से जो पुण्य किये हैं उनसे नाम का उच्चारण हुआ है, इससे यह आया कि नामोच्चारण सहज नहीं है ।

अहो वत श्वपचोऽतो गरीयान्

यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम् ।

तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्तुराया

ब्रह्मानूचुर्नामि गृणन्ति ये ते ॥३७॥

(३३३७)

पूर्वोक्त बात को ही दृढ़ करते हैं—

महान् आश्रय है कि जिसकी जिह्वा के अग्रभाग में आपका नाम सर्वदा रहता है वह श्वपच (चाण्डाल) भी इस नाम कीर्तन रूप कारण से अत्युत्तम हो जाता है, जो आपके नाम का कीर्तन करते हैं उन्होंने सर्व तप, हवन, सर्व-तीर्थ-स्नान तथा वेदाध्ययन पूर्व जन्म में कर लिये, अथवा नाम-कीर्तन सबसे श्रेष्ठ है इसके करने से सब तप आदिक बिना किये ही करे हुए हो जाते हैं जिस तरह हाथी के पैर में सबके पैर आ जाते हैं ।

गृहेष्वाविशताश्चापि पुँसां कुशलकर्मणाम् ।

मद्वात्तर्यातयामानां न वन्धाय गृहा मताः ॥३८॥

(४३०१६)

पूर्वोक्त प्रकार से हरि-कीर्तन सर्वत्र उपकार करता है ऐसे कहा है, इसमें सर्व आश्रमों का अधिकार है अब यह कहते हैं—

जो लोग गृहासक्त हैं अथवा पापों का आचरण नहीं करते हैं और मेरी वार्ता से ही समय को व्यतीत करते हैं उनके लिये गृह-बन्धन के कारण नहीं होते, तथा सत्पुरुषों से वे सन्मानित किये जाते हैं तात्पर्य यह है कि

यदि विषयी जीवों को भी इस भगवत्कीर्तन से भक्ति हो जाती है तो दूसरों की मुक्ति में कुछ भी सन्देह नहीं है।

तस्मादहं विगतविकलव ईश्वरस्य

सर्वात्मना महि गृणामि यथा मनीषम् ।

नीचोऽजया गुणविसर्गमनुप्रविष्टः

पूयेत येन हि पुमाननुवर्णितेन ॥३६॥

(७-६-१२)

उपरोक्त प्रसङ्ग केवल द्वार्दश मात्र ही नहीं है किन्तु महत्पुरुषों के आचार से भी यही निश्चित है अब यह दिखाते हैं।

जिस कारण भगवान् कीर्तन से ही संतुष्ट होते हैं इसलिए मैं दैत्यकुल में उत्पन्न होने से नीच होने पर भी विकलवता शून्य (शङ्का रहित) ईश्वर महिमा का अपनी बुद्धि के अनसार वर्णन करता हूँ, क्योंकि भगवत्-महिमा के वर्णन से माया द्वारा जीव के हृदय में जो संसारी अवगुण पैदा हुये हैं, वे सब नष्ट हो जाते हैं कारण यह है कि उसकी महिमा के वर्णन के सिवाय अन्य-उपाय जीव को पूर्णतया शुद्ध नहीं कर सकते।

सोऽहं प्रियस्य सुहृदः परदेवताया,

लीलाकथास्तव नृसिंह विरिञ्चगीताः ।

अञ्जस्तितर्म्यनुगृणन् गुण विप्रमुक्तो

दुर्गाणिते पदयुगालयहंससङ्गः ॥४०॥

(७-६-१८)

यह कहा कि अविद्या से जीव मुक्त हो जाता है अब इसका फल दिखाते हैं हे नृसिंह! मैं आपका दास होकर आपकी लीला-कथाओं का गान करता हुआ संसार के घोरतम दुःखों को बिना परिश्रम ही तर जाऊँगा, क्योंकि आपकी कथाएं जीव को रागादि दोषों से रहित कर देती हैं और आपके चरण-कमलस्वरूपगृह में निवास करने वाले जो हंसस्वरूप भक्त हैं, उनके सङ्ग से अत्यन्त विचित्र प्रेम को उत्पन्न कर देती हैं, तथा आपकी कथाओं में श्रेष्ठता तो इतनी है कि उनका बह्याजी भी गान करते हैं। जब मैं आपकी सेवा में प्रवृत्त होऊँगा, तब आपके अनुग्रह से सत्पुरुषों का सङ्ग प्राप्त होगा, उस सत्सङ्ग से रागादि दोषों से रहित होकर आपके गुणों का निरन्तर वर्णन होगा, उस निरन्तर वर्णन से दुःखादि के उत्पन्न होने की सम्भावना ही न रहेगी।

मन्त्रतस्तन्त्रतश्छद्रं देशकालार्हवस्तुतः ।

सर्वं करोति निश्छद्रमनुसङ्कीर्तनं तव ॥४१॥

(द-२३-१६)

इस प्रकार भगवान् का कीर्तन कल्याण करने में किसी भी सहायता को नहीं चाहता और अन्य कर्मों में भी जो त्रुटियां रह जाती हैं, उनका नाश भी भगवन्नाम से होता है। अब यह दिखाते हैं—

मन्त्रों के स्वरादि में हेर फेर होने से, और क्रम के बिगड़ने से तथा देश, काल, सत्पात्र और दक्षिणा आदि के ठीक-ठीक न होने से जो त्रुटियां रह जाती हैं, उन सब को केवल आपका नाम ही पूर्ण करता है।

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप

प्रेड्खेड्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ॥

गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठचो

धन्या ब्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥४२॥

(१०-४४-१५)

इसलिये जो केवल हरि-कीर्तन में ही तत्पर हैं वे ही धन्य हैं, यह दिखाते हैं—

जो ब्रज-स्त्रियां गो दोहन, कूटन, दधि-मथन, लीपन, भूलन, रोते हुये बालकों को चुप करना, छिड़काव करना और भाङ्ग देना, आदि सभी गृह-कार्यों में इन श्री कृष्ण की पवित्र कीर्ति का कीर्तन किया करती हैं, वे ही धन्य हैं। उन ब्रजगोपिकाओं के हृदय में सर्वदा ही श्रीकृष्ण स्वरूप भरा रहता है क्योंकि उनका चित्त अनुराग से पूर्ण है, अतएव कीर्ति के कीर्तन करते समय उम्मेंगे हुये आनन्दाश्रुओं की धारा कण्ठ पर बहती रहती है।

क उत्सहेत सन्त्यक्तुमुत्तमश्लोकसंविदम् ।

अनिच्छतोऽपि यस्य श्रीरङ्गान्न च्यवते क्वचित् ॥ ४३॥

[१०-४७-४८]

हरि-कीर्तन की महिमा कैसी विचित्र है, यह श्री गोपियों के वचन से दिखाते हैं—

अपना भला चाहने वाला श्री भगवान् की परस्पर चर्चा को त्यागने का उत्साह कैसे कर सकता है ? क्योंकि श्रीलक्ष्मीजी भी “अपने आनन्द में परिपूर्ण होने से, अपनी चाहना न करते हुये भगवान् के” अङ्ग को नहीं छोड़ती हैं, अर्थात् भगवत्कीर्तन से विमुख-जीव पर लक्ष्मीजी भी कृपा नहीं करती हैं ।

गायन्ति ते विशदकर्म गृहेषु देव्यो

राजां स्वशत्रुवधमात्मविमोक्षणश्च ।

गोप्यश्च कुञ्जरपतेर्जनकात्मजायाः

पित्रोश्वलब्धशरणा मुनयोवपश्च ॥४४॥

(१०-७१-६)

इसलिये विवेकी-जन कीर्तन ही करते हैं जिस तरह गोपियां शंखचूड़ के वध को और उससे अपने छुड़ाने को गाती हैं, तथा ग्राह से गज को छुड़ाने को और कंस से माता पिता के छुड़ाने को एवं कंस के वध को, आपके शरणागत हम भक्त गाते हैं, इसी तरह जरासन्ध के पकड़े हुये राजाओं की रानियां भी आपके स्वच्छ कर्म अर्थात् जरासन्ध का वध तथा अपने पतियों के मोक्ष रूप कर्मों को बालकों के लालनादि समय में “पुत्र रुदन मत कर तेरे पिता को श्रीकृष्ण छुड़ा देंगे” ऐसे गाया करती हैं ।

जिह्वां लद्ध्वाति यो विष्णुं कीर्तनीयं न कीर्तयेत् ।

लध्वापि मोक्षनिःश्रेणीं स नारोहति दुर्मतिः ॥४५॥

[हरिभक्ति सुधोदय]

जो हरिकीर्तन नहीं करता है उसकी शास्त्र भी निन्दा करते हैं,— जो मनुष्य जिह्वा को प्राप्त करके भी कीर्तनीय विष्णु का कीर्तन नहीं करता है वह मोक्ष की नसेनी को प्राप्त होकर भी उस पर नहीं चढ़ता है । उसको तुच्छ मति वाला समझना चाहिये, यहाँ पर मोक्ष-नसेनी जिह्वा का दृष्टान्त है, तात्पर्य यह है कि भगवत् कीर्तन करना ही मोक्षकी नसेनी पर चढ़ना है ।

गां दुर्घ दोहामसतीश्चभार्या-

देहं पराधीनमस्तप्रजाश्च ।

वित्तं त्वतीर्थीकृतमङ्गवाचं

हीनां मया रक्षति दुःखदुःखी ॥४६॥

(११-११-१६)

वह दुष्ट बुद्धि वाला पुरुष कैसा है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि—
 भगवत् कीर्तन से विमुख जो मनुष्य की वाणी है वह व्यर्थ पाप को उत्पन्न
 करने वाली होने से दुखदार्इ है । जो गाय आगे दूध न दे सकेगी उसका
 पालन पोषण व्यर्थ होने से दुःख के अनन्तर भी दुःख को ही देने वाली है,
 और व्यभिचारिणी स्त्री जो कि अपने को नहीं चाहती हो, उसकी जो रक्षा
 करता है, वह जैसे अनेक दुःखों को प्राप्त होता है और प्रतिक्षण में दुःखद
 तथा पराधीन शरीर की रक्षा करने वाला जैसे दुःख के अनन्तर दुःख को
 ही प्राप्त होता है, और जो संतति कुछ कमाई अथवा धर्म का संपादन नहीं
 करती है उसका पालन करने वाला मनुष्य जैसे अनेक दुःखों को प्राप्त होता
 है, और उत्तम पात्र के प्राप्त होने पर भी जो द्रव्य का दान नहीं किया जाता
 है, वह जैसे अकीर्ति और पाप का पैदा करने वाला होने से दुःख के बाद दुःख
 का ही देने वाला होता है, इसी तरह जो मेरे बिना अपनी वाणी को रखना
 चाहता है, वह भी दुःख के अनन्तर दुःख को ही प्राप्त होता है ।

**यस्यां न मे पावनमङ्गकर्म स्थित्युद्भव प्राणनिरोधमस्य ।
 लीलावतारेप्सित जन्मवास्याद् वन्ध्यां गिरंतां विभृयान्न धीरः ॥४७**

(११-११-२०)

जिस वाणी में जगत् की उत्पत्ति, रक्षा और प्रलय स्वरूप जीव को
 पवित्र करने वाला मेरा चरित्र नहीं है, अथवा जिस वाणी में लीलावतार
 कृत सर्व जगत् के मन को हरण करने वाले मेरे जन्म तथा बाल लीला आदि
 चरित्र नहीं हैं वह वाणी वन्ध्या [व्यर्थ] है, बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि
 ऐसी वाणी को धारण न करे ।

कर्लि सभाजयन्त्यार्या गुणज्ञाः सारभागिनः ।

यत्र संकीर्तने नैव सर्वः स्वार्थोऽभिलभ्यते ॥

न ह्यतः परमो लाभो देहिनां भ्राम्यतामिह ।

यतो विन्देत परमां शान्तिं नश्यति संसृतिः ॥४८॥

(११-५-३६।३७)

कीर्तन का न करना दुःखों का मूल है, यह कह कर कलियुग में
 कीर्तन ही प्रशंसनीय हैं यह दो श्लोकों में वर्णित करते हैं—

कलियुग के गुणों को जाननेवाले तथा सारग्राही जो श्रेष्ठ पुरुष हैं वे

कलि की बहुत प्रशंसा करते हैं। कलियुग में सार वस्तु क्या है? वही दिखाते हैं—कलियुग में भगवत् संकीर्तन से ही जीव के सब प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं इसीलिये कलियुग की प्रशंसा करते हैं।

इस जगत् में साधन विचार में जिनको संदेह है उनके लिये उत्तम उपाय भगवन्नाम संकीर्तन को छोड़ कर अन्य कोई भी नहीं है, क्योंकि नाम-कीर्तन से परमशान्तिस्वरूप मोक्ष को प्राप्त हो जाता है और यह संसार भी नष्ट हो जाता है। और यदि कीर्तन की महिमा ऐसी है तो धर्मादिक तो कीर्तन से ही प्राप्त हो जायेंगे। इसमें तो कुछ कहना ही नहीं है। जैसे मिश्री का भोजन आनन्ददायक भी है और पित्त रोग को भी दूर करता है इसी के न भी परमानन्द स्वरूप होने से आनन्द का देने वाला है तथा संसार रोग को नष्ट भी करता है। इसी लिये कीर्तन सर्वोत्तम लाभ (फल) है, यह प्रशंसा ठीक ही है।

ते सभागा मनुष्येषु कृतार्था नृप निश्चितम् ।
स्मरन्ति ये स्मारयन्ति हरेन्मि कलौयुगे ॥४६॥

(११-५-५२)

दूसरों को भगवन्नाम कीर्तन में लगाना भी अपने कीर्तन के सदृश ही है, अब यह कहते हैं—

राजन् ! कलियुग में जो लोग हरि का स्मरण करते हैं तथा जो दूसरों को स्मरण करते हैं वे मनुष्यों के बीच में निस्सन्देह भाग्यवान् तथा कृतार्थ हैं।

कलेदर्देषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः ।
कीर्तनादेव कृष्णाय मुक्तसङ्गः परं व्रजेत् ॥५०॥

(११-३।५१)

यद्यपि कलियुग दोषों की खान है तथापि उसमें एक महान् गुण भी है वह गुण यह है कि कलियुगी जीव श्री कृष्णकीर्तन से ही संसार बन्धन को नष्ट करके परम पद को प्राप्त हो जाते हैं।

भगवान के नाम कीर्तन की महिमा अमित है, वेद शास्त्र, पुराणादि में सर्वत्र भगवन्नाम महिमा का कीर्तन है, विशेषकर कलियुग में तो केवल नाम कीर्तन से ही मुक्ति मानी गयी है, पद्मपुराण में भी कहा है—

ध्यायन् कृते यजत् यज्ञस्त्रेतायां द्वापरेऽचर्यन् ।

यदाप्रोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम् ॥

अर्थात् सत्युगमें ध्यान, त्रेतामें यज्ञ और द्वापर में अर्चा पूजन के द्वारा जो कल प्राप्त होता था--वह कलियुग में केवल नाम संकीर्तन से ही प्राप्त हो जाता है ।

वेदों में भी नाम की महिमा का वर्णन मिलता है, ऋग्वेद मंडल १, सूक्त १४६, ऋक् ३ में कहा है—

‘आस्य जानन्तो नाम विद्विवक्तन महस्ते विष्णो सुमति भजामहे’

हे विष्णो ! तुम्हारा नाम चित् स्वरूप है, अतएव महत् है—अर्थात् स्वप्रकाश रूप है, मैं आपके नाम माहात्म्य को अल्प मात्रा में जानता हूँ, विशिष्ट रूप से नहीं जानता, फिर भी केवल नाम के अक्षरों का अभ्यास मात्र करते ही आप विषयक सुमति—भगवद् भक्ति प्राप्त होती है अर्थात् हम सुमति पूर्वक आपका भजन करते हैं ।

इसी प्रकार यजुर्वेद में भी कहा गया है कि जिस प्रभु का नाम महान् यशवाला है, उस परब्रह्म परमात्मा की संसार में कहीं भी प्रतिमा नहीं है—अर्थात् उस जैसी प्रतिकृति नहीं है—

“ न तस्य प्रतिमा अस्ति, यस्य नाम महद् यशः”

—यजुर्वेद

भगवान के एक नाम में कितनी अपार शक्ति है, इसका विचार करते हुए वृहद् विष्णु पुराण में कहा गया है कि—

नाम्नोऽस्ति यादती शक्तिः पार निर्हरणे हरेः ।

न तावत्कत्तुं शक्नोति पातकं पातकी जनः ॥

अर्थात् भगवान के एक नाम में जितने पापों को नाश करने की शक्ति है, पापी पुरुष उतने पापों का आचरण भी नहीं कर सकता, परन्तु पापनाश के लिए श्रद्धा और विश्वास पूर्वक नाम का उच्चारण होना चाहिये, फिर दुबारा पाप न करने की प्रतिज्ञा भी होनी चाहिये । नाम का आश्रय लेकर पाप करने वाले को नाम क्षमा नहीं करता, अतः नामापराध से बचकर जो नाम कीर्तन करता है उसकी मुक्ति केवल एक नाम के उच्चारण से ही हो जाती है भगवान के नाम कीर्तन में देश-काल का कोई नियम नहीं है, शौच अशौच की अवस्था भी नाम उच्चारण में बाधक नहीं है, नीच से नीच पाप

योनि में पड़ा हुआ जीव भी नामोच्चारण मात्र से शुद्ध हो जाता है, भगवान का नाम सब खी, पुरुष, शूद्र, चाण्डाल पर्यन्त तक को समान रूप से भुक्ति-मुक्ति प्रदान करता है—

स्त्री शूद्रः प्राक्कशो वापि ये चान्ये पापयोनयः ।

कीर्त्यन्ति हरिः भक्त्या तेष्योऽपीह नमो नमः ॥

ऐसे मुलभ साधन को छोड़कर भी जो मनुष्य इधर उधर भटकता है, वह बड़ा भाग्य हीन है, मनुष्य शरीर प्राप्त करके भी मुक्ति का सहज साधन भगवन्नाम कीर्त्तन नहीं किया तो उस मानव शरीर धारी को धिक्कार है, पापात्मा पुरुष व्यर्थ ही अपने कर्म को दोष देता है, कभी कहता है ईश्वर इच्छा ही नहीं है तो मैं भजन कैसे करूँ ? कभी समय को दोष देता है, गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है कि जो मन्दमति इस नर देही को प्राप्त करके भी संसार सागर से पार होने का साधन नहीं अपनाता—वह मूढ़मति आत्महृत्या की गति को प्राप्त होता है—

जो न तरहि भव सागरहि, नर समाज अस पाइ ।

सो कृत निन्दक मन्दमति, आत्महनि गति जाइ ॥

अतः चतुर नर वह है जो संसार में जन्म लेकर सब काम करते हुए भी आत्म कल्याण के लिये भी प्रयत्नशील रहता है, संसार सागर से पार होने के लिए किसी बड़ी साधना की आवश्यकता नहीं है, कलियुग में तो भगवन्नाम ही सर्वोपरि विराजमान है, अतः सर्वतोभावेन भगवान के नाम की शरण ले ले, क्योंकि इस युगमें स्वाभाविक ही मनुष्य की प्रवृत्ति पापों की ओर बढ़ रही है, कलियुग पापों की खान है, इस युग में भगवन्नाम को छोड़ कर अन्य कुछ साधन बनता ही नहीं, क्योंकि—

सर्वमङ्गलमाङ्गल्यमायुष्यं व्याधिनाशनम् ।

भुक्ति भुक्ति प्रदं दिव्यं वासुदेवस्य कीर्तनम् ॥

श्रीमद भागवत में भी इसी प्रकार अन्य-अन्य युगों में भगवद प्राप्ति के दूसरे साधन माने गये हैं, किन्तु ‘कलौत्थरि कीर्तनात्’ कलियुग में केवल कीर्तन से ही प्रभु की प्राप्ति बताई है—

कलि केवल मल मूल मलीना, पाप पयोनिधि जन मन मीना ।

नाम काम तरु काल कराला, मुमिरत शमन सकल जगजाला ॥

नहिं कलि कर्म न भक्ति विवेकू, रामनाम अवलम्बन एकू ।

जपहिं नाम जन आरत भारी, मिटहिं कुसंकट होहि सुखारी ॥

चहुँ युग तीनि काल तिहूँ लोका, भये नाम जप जीव विशेषका ।

ध्यान प्रथम युग मख विधि दूजे, द्वापर परितोषत प्रभु पूजे ॥

कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतोमखैः ।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्वरिकीर्तनात् ॥५२॥

[११-५-५२]

सत्ययुग में विष्णु के ध्यान करने से, और त्रेतायुग में यज्ञों द्वारा भगवान की पूजा करने से तथा द्वापर युग में भगवत्स्वरूपों से महिदरों में पधरा कर उनकी पूजा करने से जो फल प्राप्त होते थे, जीव उन सब फलों को कलियुग में केवल हरि-कीर्तन से ही पा जाता है, इसलिये कलियुग की प्रशंसा ही करनी चाहिये ।

विष्णोर्नुं वीर्यं गणनां कतमोर्हतीह
यः पार्थिवान्यगि कविदिममे रजांसि ।

वस्कम्भ यः स्वरंहसाऽस्खलतान्निपृष्ठं
यस्मात् त्रिसाम्यसदनादुरुकम्ययानम् ॥५३॥

(२-७-८७)

प्रश्न—वे भगवद-गुण कौन से हैं जिनका कि कीर्तन करना चाहिये ?

उत्तर—वे गुण अनन्त हैं इसलिये नियम नहीं किया जा सकता, और उनकी गणना भी कोई नहीं कर सकता—अब यह कहते हैं—

जो पृथ्वी के परमाणुओं की भी गिन ले वह भी भगवत्पराक्रमों की गणना नहीं कर सकता है वे भगवान कैसे हैं ? यह दिखाते हैं—जिन्होंने ब्रह्म के लोक को धारण किया, ब्रह्म-लोक को धारण करने का कारण यही था कि जिस समय भगवान् ने त्रिलोकी को नापने के लिये चरण बढ़ाया, उस समय चरण के वेग से प्रकृति-प्रर्यन्त सब लोक कम्पित होकर गिरने लगे, तब ब्रह्म-लोक पर्यन्त सब जगह को गिरने न दिया अर्थात् धारण कर लिया, जिस भगवान के एक “वामन अवतार” का ऐसा एक गुण है उस भगवान के अनन्त अवतारों के अनन्य गुणों को ब्रह्मादि भी नहीं गिन सकते, यह तात्पर्य है ।

नान्तं विदाम्यहमसी मुनयोऽग्रजास्ते
मायावलस्य पुरुषस्य कुतोऽपरे ये ।

गायन् गुणान् दशशतानन् आदि देवः
 शेषो धुनापि समवस्पति नास्य पारम् ॥५४॥

(२-७-४१)

पूर्वोक्त विषय को श्रीब्रह्माजी के प्रसङ्ग से दिखाते हैं—

परमेश्वर का जो माया रूप बल है उसके अन्त को मैं नहीं जानता हूँ और तुम्हारे वडे भाई मनकादिक भी नहीं जानते हैं। और दूसरे लोग नहीं जानते हैं इसका तो कहना ही क्या है, सहस्र मुख वाले आदि देव शेषजी भी निरन्तर भगवद्गुणों का गान कर रहे हैं फिर भी अभी तक पार नहीं पाते हैं।

यो वा अनन्तस्थ गुणानन्ता

ननु क्रमिष्यन् स तु बालबुद्धिः ।

रजांसि भूमेर्गुणयेत्कथश्चित्

कालेन नैवाखिल शक्ति धास्नः ॥५५॥

(११-४-२)

इसलिए ‘भगवान के गुण कितने हैं’ यह जानने की इच्छा नहीं करनी चाहिये, यह कहते हैं—

अनन्त भगवान् के अनन्त गुणों को जो मनुष्य गिनना चाहता है उनकी बुद्धि बालकों की-सी है। चिरकाल तक लगकर यदि कोई बुद्धिमान पृथ्वी के कणों को गिनता रहे तो गिन सकता है यह तो मान लिया जायगा, किन्तु अखिल शक्तियों के आश्रय भगवान् के गुणों को कभी भी नहीं गिन सकता है इसलिये अपनी बुद्धि के अनुसार जितने गुण जाने जा सकें उतने का ही कीर्तन करना चाहिये।

यस्याखिलामी वहुभिः सुमङ्गलै

वचो विमिश्नार्गुणकर्मजन्मभिः ।

प्राणन्ति शुभन्ति पुनन्ति वै जगत्

यास्तद्विरक्ताः शब शोभनामताः ॥५६॥

(१०-३८-१२)

और अन्य विषय वाली जो वाणियाँ हैं जब वे भगवन्नामादि से मिश्रित होती हैं, तभी धन्य होती हैं, अब यह कहते हैं--

अखिल पाप-नाशकारी तथा सुन्दर मङ्गलों के देने वाले जो भगवान् के गुण, कर्म और जन्म हैं उनसे मिश्रित वाणियाँ जगत् को जीवित करती हैं तथा शोभाशाली बनाती हैं और पवित्र कर देती हैं और जा भगवत् के गुणादिकों से रहित वाणियाँ हैं वे सुन्दर काव्य के अलङ्कारों से युक्त होने पर भी वस्त्र-भूषण से अलंकृत शब्द के सदृश ज्ञात होती हैं ऐसा सत्पुरुषों का सिद्धान्त है।

इत्थं हरेर्भगवतो रुचिरावतार

वीर्याणि बालचरितानि च शन्तमानि ।

अन्यत्र चेह च श्रुतानि गृणन्मनुष्यो

भक्तिं परां परमहंस गतौ लभेत ॥५७॥

(११-३१-२८)

इसलिये कीर्तन ही परम-भक्ति है यह अब प्रकरण की समाप्ति में दिखाते हैं--

इस प्रकार जो भगवान् का मनोहर अवतार है उस अवतार के परमानन्द होने वाले पराक्रम और बाल-चरित्रों को जो कि इस पुराण अथवा दूसरे पुराणों में सुने जाते हैं इनका जो मनुष्य कीर्तन करेगा वह परमहंसों की गति स्वरूप भगवान् में प्रेम-भक्ति को प्राप्त होगा अर्थात् कीर्तन में जो तत्पर उसको सपूर्ण भक्ति प्राप्त हो जायगी ।

इति कीर्तन-भक्ति निरूपण पञ्चम-विरचनम्



स्मरण-भक्ति

(षष्ठम् विरचन)

अब स्मरण-भक्ति के वर्णन के लिये षष्ठ विरचन प्रारम्भ करते हैं।

अहो यूयं स्म पूर्णार्था भवत्यो लोकपूजिताः ।

वासुदेवे भगवति यासामित्यपितं मनः ॥१॥

[१०-४७-२३]

जिस प्राणी का वासुदेव भगवान के स्मरण करने का स्वभाव है, वह प्रशंसनीय तथा कृतार्थ है, अब यह श्री हरिदासवर्य श्री उद्घवजी के वाक्य से वर्णन करते हैं कि, हे गोपियो ! अहा हा !!! जिनके सर्व मनोरथ पूर्ण हो गये हैं, ऐसी हो तो जगत् में एक तुम ही हो तथा आप ही सर्व लोक पूजनीय हो, क्योंकि आप सब का मन अन्य सब की प्रीति को छोड़कर, सौन्दर्य-सागर नटनागर वासुदेव भगवान् में ही परम प्रेम से आविष्ट हो रहा है, भगवान में चित्त वृत्ति वा स्थिर होना वहुत प्रयास से प्राप्त होता है। इसलिये आप सब ने योगादि का जो फल है, वह प्राप्त कर लिया है।

एतावान् योग आदिष्टो मच्छिष्यैः सनकादिभिः ।

सर्वतो मनं आकृष्य मम्यद्वाऽवेश्यते यथा ॥२॥

[११-१३-१४]

इसी को भगवान् के वचन से स्पष्ट दिखाते हैं--

मन को सर्व विषयों से हटाकर पूर्ण रूप से मुझमें ठीक-ठीक जो लगा देना है, मेरे शिष्य सनकादिकों ने इसी को 'योग' कहा है।

सकृन्मनः कृष्णपदारविन्दयो

निवेशितं तदगुण रागियैरिह ।

न ते यमं पाश भृतश्च तद्भटान्

स्वप्नेऽपि पश्यन्ति हि चीर्ण निष्कृताः ॥३॥

(६-२-१३)

जिन्होंने इस लोक में श्रीकृष्ण के गुणों में अनुराग वाले मन को एक बार भी श्री कृष्ण के चरण-कमलों में प्राणपन से स्थापन कर दिया है. वे सज्जन स्वप्न में भी यमराज को तथा पाश-धारी उनके दूतों को नहीं अवलोकन करते हैं, क्योंकि इतने मात्र से ही उनके सर्व पाप-पुङ्गों का प्रायश्चित्त हो गया है, और जिनका मन सर्वदा अपने-आप ही श्रीनन्दननन्दन के सर्वाङ्ग में अलौकिक-सौन्दर्य आदि गुणों का रसिक होने से आविष्ट हो जाता है, वे कृष्ण-प्रिय भक्त यम आदिकों को नहीं अवलोकन करते हैं, इसमें तो कहना ही क्या है ?

न भारतीमेऽङ्गं मृषोपलक्ष्यते,

न वै क्वचिन्मे मनसो मृषागतिः ।

न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्पथे,

यन्मे हृदौत्कण्ठच वताधृतो हरिः ॥४॥

(२-६-३४)

ऐसे ही जगदगुरु श्रीब्रह्मा जी के वाक्य से अन्य फलों का वर्णन करते हैं कि, मैंने जिस हेतु उत्कण्ठा-युक्त (अपनी प्राणप्रिय वस्तु के दर्शन की तथा प्राप्ति की चाहना आदिकों से काल-विलम्ब का उसी उत्कट विरह में जो न सह सकना है, उसका नाम 'उत्कण्ठा' है, इससे मुख का शुष्क होना, त्वरा, दैर्घ्य चिन्ता तथा दैर्घ्य-विश्वासः एवं स्थिरतादि (जड़ीभूत होना) उत्पन्न होते हैं ।) हृदय से श्री हरि को हृदय में पकड़ रखा है, इसलिये मेरे मन की गति असार-पदार्थों में नहीं जाती है एवं मेरा वाक्य भी असत्य नहीं होता है और न इन्द्रियाँ हो खोटे मार्ग में जाती हैं, अर्थात् मेरा प्रभाव कुछ भी नहीं है, किन्तु यह भगवन्नाम के स्मरण का फल है ।

एतावान् सांख्य योगाभ्यां, स्वधर्म परिनिष्ठया ।

जन्मलाभः परः पुंसामन्तेनारायणस्मृतिः ॥५॥

(२-१-६)

इसलिये भगवान् के स्मरण की अपेक्षा अधिक कोई भी लाभ नहीं है, यह श्रीव्यास-पुत्र शुक वाक्य से वर्णन करते हैं—

आत्मा और अनात्मा का जो विवेक और अष्टाङ्ग-योग तथा अपने धर्म की निष्ठा, इन सब के द्वारा अन्त समय श्री नारायण भगवान् की स्मृति का होना, यह मनुष्य-जन्म का परम-लाभ है, नहीं तो विषयासक्त-मनुष्य-जन्म और पशु-योनि में क्या अन्तर है? इससे यह सिद्ध हुआ कि—ज्ञान, योग और स्वधर्म-निष्ठा, ये परम-फल नहीं हैं, किन्तु स्मरण ही परम फल है, जिसमें भी फिर मरण-समय जो भगवत् का स्मरण, वह तो सर्वोत्तम श्रेणी का लाभ है। अर्थात् अन्त-समय भगवत् के स्मरण की महिमा का वर्णन करना तो अत्यन्त अगम्य है।

तस्मात्सर्वात्मना राजन् हृदिस्थं कुरु केशवम् ।

च्रियमाणो ह्यवहितस्ततो यासि परां गतिम् ॥६॥

(१२-३-४६)

परमभक्त-राजा श्री परीक्षित जी के प्रति श्री परमहंस शुकदेव जी के कहे हुए वाक्य के द्वारा यही स्पष्ट करके वर्णन करते हैं कि, अतएव हे राजन्! इस समय तुम मन, वचन तथा तन से एकाग्र होकर हृदय में उन्हीं परम सुन्दर श्याम मूर्ति केशव का ध्यान करो, आप उस स्मरण से ही परम-गति-स्वरूप भगवान् को प्राप्त करोगे।

च्रियमाणैरभिध्येयो भगवान्परमेश्वरः ।

आत्मभावं नयत्यङ्गं सर्वात्मा सर्वं संश्रयः ॥७॥

(६-२-४६)

जिनके निकट मृत्यु आ पहुँची है, उन सब के अन्तर्यामी तथा सब के धारण करने वाले श्रीहरि भगवान् ध्यान करने योग्य हैं, क्योंकि जो ध्यान करने वाले हैं, उनको वे हरि अपने समान बना लेते हैं, अर्थाद् मुक्ति प्रदान करते हैं।

अविस्मृतिः कृष्ण पदारविन्दयोः,

क्षिणोत्य भद्राणि च शं तनोति ।

सत्त्वस्य शुद्धि परमात्मभक्ति,
ज्ञातश्च विज्ञानविरागयुक्तम् ॥८॥

(६-२-४६)

प्रश्न—ज्ञान के बिना केवल स्मरण से ही भगवान् की समता कैसे प्राप्त हो सकती है ? उत्तर देते हैं कि यह ज्ञान भी तो उस स्मरण से ही प्राप्त होता है । अब यह वर्णन करते हैं कि, भगवान् श्रीकृष्ण के चरण-कमलों का निरन्तर स्मरण सब पापों को नष्ट करता है, तथा कल्याण का दान करता है एवं हृदगत वासनाओं को नष्ट करके हृदय को विशुद्ध बना देता है, और परमात्मा श्रीकृष्ण में प्रेम-भक्ति को प्रगट कर देता है और अनुभव तथा विषयों का न रुचना स्वरूप जो परम-वैराग्य, उसके सहित शास्त्रीय ज्ञान को भी उत्पन्न कर देता है ।

विद्या तपः प्राण निरोध मैत्री,
तीर्थाभिषेकव्रतदानजप्यैः ।
नात्यन्त शुद्धि लभतेऽन्तरात्मा
यथा हृदिस्थे भगवत्यनन्ते ॥६॥

प्रश्न—क्योंजी ! ज्ञान का कारण जो हृदय की निर्मलता है, वह विद्यादिकों से प्राप्त होती है । उसमें ‘स्मरण’ की क्या आवश्यकता है ? वहाँ उत्तर देते हैं कि विद्या अर्थात् देवताओं की उपासना अथवा शास्त्र अध्ययन, स्वधर्मचरण अथवा अनशन आदि स्वरूप तप, प्राणायाम, जीवों पर दया, तीर्थों में स्नान, कृच्छ्रचान्द्रायणादिक व्रत, दान, अनेक देवताओं के मन्त्र का जप, इनसे भन अत्यन्त शुद्ध नहीं होता है, जैसे केशव के हृदय में प्रगट होने पर अङ्गात (सवासना) शुद्ध होता है । अर्थात् वे विद्यादिक पापों को तो नष्ट कर देते हैं, परन्तु वासना को समूल नष्ट नहीं करते हैं ।

पुंसा कलिकृत दोषान् द्रव्य देशात्मसम्भवान् ।
सर्वानि हरति वित्तस्थो भगवान् पुरुषोत्तमः ॥१०॥

(१२-३-४५)

इस बात को स्पष्ट करके वर्णन करते हैं कि, पुरुषों के अन्दर कलियुग के किये हुये द्रव्य (जैसे आज-कल चर्वी आदिक से मिश्रित घृतादिक की अपवित्रता) देश (गोहत्यादिक के कारण देश की अपवित्रता) और मन (मन-कर्मादिक से दूषित होने के कारण मन की अपवित्रता ।) से उत्पन्न होने वाले सब दोषों को हृदय में ध्यान किये हुए भगवान् पुरुषोत्तम नष्ट कर देते हैं अर्थात् भगवान् हृदय में प्रगट होकर जीव की सब प्रकार की अशुद्धियों को नष्ट कर देते हैं ।

यथा हेम्नस्थितो वह्निर्दुर्वर्णं हन्ति धातुजम् ।
एवमात्मगतो विष्णुर्योगिनामशुभाशयम् ॥११॥

(१२-३-४७)

इन बातों को दृष्टान्त द्वारा पुष्ट करते हैं कि— जिस स्वर्ण में ताम्र आदि धातु के सम्बन्ध से जो मलिनता आ जाती है उस मलिनता को उस स्वर्ण में स्थित होकर अग्नि ही नष्ट कर सकती है, जलादिक नहीं । ऐसे ही योगियों के मन में प्रगट होकर अघभञ्जन श्रीविष्णु भगवान् ही अघयुक्त हृदय को पवित्र करते हैं, योगादिक नहीं । इसलिये यह कथन सत्य ही है, कि विद्या तपादिकों से हृदय की नितान्त शुद्धि नहीं होती है ।

मन्येऽसुरान् भगवतांस्त्रयधीशो-
संरम्भ मार्गाभिनिविष्ट चित्तान् ।
ये संयुगेऽचक्षत ताक्ष्यं पुत्र-
मंसे सुनामायुधमापतन्तम् ॥१२॥

(३-२-२४)

जिस-किसी प्रकार भगवान् का स्मरण ही जीव के कल्याण का हित है, यह श्रीउद्धव जी के वाक्य से वर्णन करते हैं कि, त्रिलोकी के नाथ श्री कृष्णचन्द्र के विषय में असुरों को भी मैं भक्त ही मानता हूँ, क्योंकि जो उन्होंने क्रोधावेश से चित्त को कृष्णमय कर दिया । यदि वे भक्त न होते तो गरुड़ के स्कन्ध पर विराजमान चक्र सुदर्शनधारी श्रीहरि भगवान का दर्शन

न कर सकते, इसलिये उनके ऊपर जो श्रीकृष्ण ने संसार से पार होने के लिए अनुग्रह किया है, सो ठीक ही है ।

भजन्त्यथत्वामथ एव साध्वो,
व्युदस्तमायागुणविभ्रमोदयम् ।

भवत्पदानुस्मरणाद्वृते सतां,

निमित्तमन्यद्वगवन्न विद्यहे ॥१३॥

(४-२०-२६)

अब श्रीमहाराज पृथुजी के वाक्य से सारांश वर्णन करते हैं, कि हे भगवान् ! जिस कारण से आप दीनवत्सल हैं, इसीलिये निष्काम साधु जन ज्ञान होने के बाद भी आपका ही भजन करते हैं, क्यों कि आप में माया के गुणों का जो विलास है, उसका कार्य नहीं है अर्थात् आप शुद्ध सच्चिदानन्दैक-मूर्ति अमायिक वस्तु हैं । इसलिए ज्ञानियों को भी आपके भजन का विचित्र आनन्द आता है ।

प्रश्न—साधु जन क्यों भजते हैं ?

उत्तर—ज्ञानी लोग आपके चरण कमल के निरन्तर स्मरण को ही सर्व सुख शिरोमणि समझते हैं, इसलिये अन्य किसी स्वार्थ से आपका भजन नहीं करते हैं, यह हमारा अनुभव है

भूयादधोनि भगवद्द्विरकारि दण्डो,
योनौ हरेत सुरहेलन मप्यशेषम् ।

मावोऽनुतापकलया भगवत् स्मृतिष्ठनो,

मोहो भवेदिह तु नौ व्रजतोरधोऽधः ॥१४॥

जिसका भगवत् के स्मरण करने का स्वभाव है, उस पुरुष के लिये अपने कर्म से उत्पन्न जो अनर्थ है वह भी अधिक सन्ताप को उत्पन्न नहीं कर सकता । यह वैकुण्ठाधिपति भगवान् के पार्षद श्रीजय तथा श्रीविजय के वाक्य से प्रदर्शन करते हैं, कि अपराधी के ऊपर जैसा दण्ड होना चाहिए वह भी आपने किया, इसमें आपका कुछ भी अपराध नहीं है, इसलिए वह दण्ड हम दोनों के लिए होना ही चाहिये । क्यों कि ईश्वर की आज्ञा उल्छून रूप पाप के नष्ट होने पर हम पवित्र हो जायेंगे । परन्तु हे नाथ ! हम नीच उत्तमाधम योनियों में चाहे भले ही चले जांय तो भी भगवत् की स्मृति को

नाश करने वाला मोह हम दोनों के हृदय में उत्पन्न न हो । ऐसी आपकी कृपा हम चाहते हैं । अर्थात् मोह भी यदि हो तो आपकी स्मृति का ही वर्द्धक हो । बस यही है हमारी प्रार्थना और कुछ नहीं है याचना ।

तं नः समादिशोपायं येन ते चरणाब्जयोः ।

स्मृतिर्यथा न विरमेदपि संसरतामिह ॥१५॥

(१०-७३-१५)

इस बात को जरासन्ध के बन्दी घर के राजाओं के वाक्य से दिखाते हैं कि, हे भगवन् ! आप हमें वह उपाय बताइये, जिससे कि इस संसार में बारम्बार जन्म लेने पर भी आपके चरण कमलों की परिपूर्ण-स्मृति सदा बनी रहे । अर्थात् आपकी कृपा का फल हम आपके निरन्तर स्मरण को ही समझते हैं ।

शश्यासनाटनालाप क्रीड़ा स्नानाशनादिषु ।

न विदुः सन्तमात्मानं वृष्णयः कृष्ण चेतसः ॥१६॥

(१०-६०-४६)

प्रश्न—भगवान् की कृपा से यद्यपि स्मरण तो सदा रह सकता है, तो भी जब तक संसार में स्मरण करने वाला विद्यमान रहेगा, तबतक संसार का दुःख तो अवश्वमेव भोगना पड़ेगा । इसी वाक्य का समाधान श्री शुकदेव जी के वाक्य से प्रदर्शन करते हैं कि, वृष्णि लोग शयन करना, बैठना, चलना, बातचीत करना, खेलना, स्नान करना तथा भोजनादि के समय भी श्रीकृष्ण में परम प्रेम से चित्त समा जाने के कारण अपने को भी भूल गये, फिर संसार-दुःख को भूल गये इसको तो कहना ही क्या है ।

अकिञ्चनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः ।

मया सन्तुष्ट मनसः सर्वाः सुख मयादिशः ॥१७॥

(११-१४-१३)

इस विषय में श्रीभगवान् के द्वारा हेतु को दिखाते हैं—कि स्मरण किये हुये मुझसे जिस परिग्रह रहित जितेन्द्रिय, शान्त और समदर्शी जीव का चित्त सन्तुष्ट है, उसके लिये दशों दिशायें सुख से परिपूर्ण हैं । इस प्रकार जो आनन्दसिन्धु में मग्न हो रहा है । उसे संसार दुःख का अनुभव किस प्रकार हो सकता है ।

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्र धिष्णं
त सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।

न योग सिद्धीरपूनर्भवं वा,
मय्यपितात्मेच्छतिमद्विनान्यत् ॥१८॥

(११-१४-१४)

अब उस आनन्द की ही परिपूर्णता को वर्णन करते हैं “कि जिस पुरुष ने अपने मन को परिपूर्ण आनन्द स्वरूप मुझमें समर्पण किया है, वह मुझको छोड़ कर ब्रह्म-पद, इन्द्र-पद, चक्रवर्ती पद, पाताल आदिक लोकों का आधिपत्य, अणिमादिक योग सिद्धियाँ अथवा मोक्ष सुख पर्यन्त कुछ भी नहीं चाहता है, अर्थात् भक्त जो स्मरण करने वाला है, उसका सबसे अधिक प्राण प्रिय मैं ही हूँ, इसलिये वह मेरे स्मरण से ही कृतार्थ है ।”

मय्यपितात्मनः सभ्य निरपेक्षस्य सर्वतः ।

मयात्मना सुखं यत्तत्कुतःस्याद्विषयात्मनाम् ॥१९॥

(११-१४-१७)

भगवत्स्मरण सुख से विषय सुख अत्यन्त ही निकृष्ट (तुच्छ) है— “इसमें तो कहना क्या है ? अब यह वर्णन करते हैं कि हे सभ्य उद्घवजी ! जिसने मुझमें अपने मन को संलग्न किया है, उसको सब विषयों की अपेक्षा छोड़कर हृदय में प्रकाशमान मुझसे जो सुख का अनुभव होता है, भला वह सुख विषयासक्त पुरुषों को कहाँ प्राप्त हो सकता है !

वैरेण यं नृपतयः शिशुपालं पौण्ड्रं,

शाल्वादयो गति विलास विलोकनाद्यैः ।

ध्यायन्ति आकृतिधियः शयनासनादौ,

तत्साम्यमापुरनुरक्तधियां पुनः किम् ॥२०॥

(११-५-४८)

श्रीहरि स्मरण की इस महिमा को असम्भव न समझना चाहिये, यह कैमुतिक-न्याय देवर्षि श्रीनारद जी के वाक्य से प्रदर्शन करते हैं, कि भक्ति-रत्नावली

“जब कि शिशुपाल, शाल्व और पौण्ड्र आदिक नुपतिगण उठते, बैठते भोजन करते तथा पीते समय अनुक्षण श्रीबालमुकुन्द हरि की चाल तथा चितवन आदिक लीलाओं का ध्यान करते हुये उनमें मन के निमग्न होने से हरि की ममता को प्राप्त हो गये, तो फिर अनुरागी भक्तों के लाभ में क्या सन्देह है ?” अर्थात् हे वसुदेवजी ! यदि द्वेषभाव से भी कल्याण हुआ तो सुतरां पुत्र भाव से अकल्याण नहीं हो सकता, इसलिये आपका हरि में जो पुत्र भाव है, वह अपराध नहीं है ।

निभृतमरुन्मनोक्षट्टद्योगयुजो हृदि य
न्मुनय उपासते तदरथोऽपि ययुः स्मरणात् ।
स्त्रिय उरगेन्द्र भोग भुज दण्डविषक्तधियो-
वयमपियो समाः समहशोऽङ्गत्रि सरोज सुधाः ॥२१॥

(१०-८७-२२)

यदि कोई इस विषय को असम्भव समझे तो अब साक्षात् श्रुति (वेद) वाक्य से समर्थन करते हैं कि—“मुनिगण प्राण तथा मन को वश करने के उपरान्त इन्द्रिय-संयम पूर्वक दृढ़-योग के द्वारा, अपने हृदय में जिस तत्व का ध्यान करते हैं उसी तत्व को आपके स्मरण के प्रभाव से आपसे शत्रुता रखने वाले भी आपको प्राप्त हुये हैं, सर्पराज के शरीर के समान अपनी विशाल भुजाओं में प्रेम के आवेश से जिनका मन आसक्त हो गया है, वे परिछिन्न दृष्टि वाली जो गोपियाँ उन गोपियों के समान दृष्टि वाली होकर आपका दर्शन करने वाली हम श्रुति अभिमानी देवता भी एक समान ही आपकी कृपा के पात्र हैं, तथा आपके चरण-कमल के अमृत का स्वाद लेते हैं, अर्थात् आपके स्मरण की ऐसी ही महिमा है, कि जो योगी आपकी उपासना को हृदय में धारण करते हैं, तथा आपका ध्यान करने वाली जो हम श्रुतियाँ एवं जो स्त्रियां काम से आपका ध्यान करती हैं, तथा द्वेष-भाव से जो पुरुष आपका ध्यान करते हैं, उनको आप अपने निकट निवास का दान अवश्य ही करते हैं ।

एनः पूर्वकृतं यत्तद्राजानः कृष्णवैरिणः ।
जहुस्तेऽन्ते तदात्मानः कीटः पेशस्कृतो यथा ॥२२॥

(७-१०-३६)

प्रश्न—क्यों जी ! द्वेषी-जनों को भगवत्प्राप्ति श्रीभगवान् के साथ द्वेष-भाव से उत्पन्न पाप के विद्यमान होते हुये कैसे हो सकती है ?

उत्तर—भगवत् के निरन्तर स्मरण की महिमा से पाप के नष्ट होने पर प्राप्ति हो सकती है, यह श्री नारद-वाक्य से वर्णन करते हैं कि—जैसे 'कीट' भृङ्ग के ध्यान से अपने पूर्व रूप को त्याग कर भृङ्ग के समान रूप को प्राप्त हो जाता है, इसी प्रकार श्री कृष्ण से वैर रखने वाले राजा लोग अन्त समय भगवत्स्मरण के प्रभाव से इस समय श्री कृष्ण वैर से अथवा अन्य असत्कर्मों से जो पाप उत्पन्न हुए और पहले जन्मों में एकत्रित किये हुए जो पाप-पुञ्ज उनको नष्ट करके भगवान् की समता को प्राप्त हो गये ।

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते ।

मामनुस्मरतश्चित्तं मयेव प्रविलीयते ॥२३॥

(११-१४-२७)

जो जिसका स्मरण करता है, उसका मन उसी के समान आकार वाला हो जाता है, यह वर्णन करते हैं । "कि जो मनुष्य विषयों का ध्यान करता है, उसका मन विषय रूप ही हो जाता है, और जो निरन्तर मेरा स्मरण करता है, उसका मन मुझ में ही लीन हो जाता है, अर्थात् वह मेरे समानाकार हो जाता है ।" श्लोक में " प्रविलीयते " इस पद में प्र शब्द से यह समझना कि मुझको प्राप्त भी हो जाता है, इस लिए सत्य कहा है कि सब से अधिक स्मरण सुख है, और जो कोई भी स्मरण करते हैं, वे सब कृतार्थ हैं ।

दृष्टं तवांश्चियुगलं जनताप वर्गं

ब्रह्मादिभिर्हृदि विचिन्त्यमगाधवोधैः ।

संसारकूपपतितो चरणावलम्बं

ध्यायंश्चराम्यनुगृहाण यथा स्मृतिः स्यात् ॥२४॥

(१०-६६-१८)

इसलिए मुक्त जन भी भगवत् के स्मरण को याचना करते हैं, यह श्री नारद जी के वाक्य से प्रतिपादन करते हैं । कि हे भगवन् ! भक्तजन जिसको मोक्ष स्वरूप समझते हैं और अनन्त ज्ञान के सागर ब्रह्मा आदिक योगेश्वर भी जिसको परम दुर्लभ समझ कर हृदय में ध्यान करते हैं, और जो लोग संसार रूप कूप में पतित हैं, उनके उद्धार करने के लिए जो आश्रय स्वरूप आपके चरण युगल, वे दोनों आज मैंने दर्शन कर लिए इसलिए मैं

कृत-कृत्य हो गया हूँ, तो भी उन आपके श्री चरणारविन्दों की जिस प्रकार मेरे हृदय में स्मृति बनी रहे, ऐसी कृपा कीजिये, तत्पश्चात् मैं आपके श्री चरण-कमलों का ध्यान करता हुआ आनन्द से विचरण करूँगा ।

आहुश्चते नलिन नाभपदारविन्द

योगेश्वरर्हृदि विचिन्त्यमगाधवोधः ।

संसार कूप पतितोत्तरणावलम्बं

गेहं जुषामपि मनस्युदियात्सदानः ॥२५॥

(१०-८२-४८)

अब श्री गोपियों के वाक्य से यह दिखाते हैं, कि जो विषय त्याग में असमर्थ है, उनको भी भगवच्चरण-स्मरण का त्याग न करना चाहिए । श्री गोपियाँ श्री श्यामसुन्दर के प्रति बोलीं कि “हे कमलनाभ ! जिस आपके श्री चरण कमल का ध्यान, अगाधज्ञान-सिन्धु-योगेश्वर गण भी अपने हृदय-कुञ्ज में सर्वदा प्रेम से करते हैं, और जो संसार-कूप में गिरे हुए प्राणियों का उद्धार करने वाला है, वह आपका ‘चरण-कमल’ गृह में (नितान्त आसक्त यह विशुद्ध प्रेम-मूर्ति गोपियों का वाक्य दीनता से परिपूर्ण है, इसलिए उनको गृहासक्त न समझना चाहिए) हम भोली-भाली गोपियों के मन मन्दिर में सर्वदा प्रगट हो, अर्थात् आपका विस्मरण स्वप्न में भी न हो ।

तस्मादसदभिध्यान यथा स्वप्नमनोरथम् ।

हित्वा मयि समाधत्स्व मनोमदभावभावितम् ॥२६॥

(११-१४-२८)

अब स्मरण-भक्ति के प्रकरण को स्वयं श्री भगवान् के वाक्यामृत से समाप्त करते हैं—“कि जिस कारण अन्यान्य सम्पूर्ण साधन तथा उनका फल, स्वप्न और मनोरथ के तुल्य केवल असत्-चिन्तन स्वरूप है, इसलिए उन सबका परित्याग कर, मेरे भजन से विशुद्ध किये मन को केवल मेरी भक्ति से ही मेरे में स्थिर कर । अर्थात् मेरी आज्ञानुसार ऐसा करने से ही सब अनर्थ की निवृत्ति, तथा परमानन्द की प्राप्ति हो जायेगी ।

॥ इति स्मरण भक्ति निरूपण षष्ठं विरचनम् ॥

पाद सेवन-भक्ति

सप्तम-विरचन

अब पाद-सेवन (चरण-सेवा) के वर्णन के लिये सप्तम-विरचन आरंभ करते हैं—

देवोऽसुरोमनुष्यो वा यक्षो गन्धर्व एव वा ।

भजन्मुकुन्दचरणं स्वस्तमान्स्याद्यथा वयम् ॥१॥

(७-७-५०)

श्रीमुकुन्द भगवान् के चरण कमलों की सेवा जीव-मात्र का कल्याण करती है, यह भक्तराज श्रीप्रह्लाद जी के वाक्य से वर्णन करते हैं :—कि देव असुर, मनुष्य अथवा यक्ष और गन्धर्व कोई भी हो, श्रीमुकुन्द भगवान् की चरण-सेवा से, जैसे मैं असुर योनि होकर भी कल्याण को प्राप्त हुआ हूँ, ऐसे सभी इस लोक तथा परलोक में परम मङ्गल को प्राप्त होते हैं ।

मत्प्राप्तयेऽजेशसुरादयः प्रभो,

तप्यन्त उग्रं तप ऐन्द्रिये धियः ।

ऋते भवत्पादपरायणान्न मां

विन्दन्त्यहं त्वदधृदया यतोऽजित ॥२॥

(५-१८-२२)

अब श्रीलक्ष्मी जी के वाक्य से, “इस लोक में भगवत्पाद-सेवा से ही कल्याण होता है” यह दिखाते हैं—“हे अजित ! ब्रह्मा, महेश, अन्य देवगण तथा दैत्य इन्द्रिय-सुख की चाहना से मेरी प्राप्ति के लिये बड़े-बड़े कठोर तप करते हैं, किन्तु मुझको प्राप्त नहीं कर सकते, क्योंकि मेरा हृदय आपकी चरण सेवा में है । आपके चरण-कमल का जो आश्रय नहीं करता है, वह

मुझको कदापि प्राप्त नहीं कर सकता, अर्थात् जहाँ आपका निवास स्थान है, वहाँ ही मेरा वास है।

त्वय्यांबुजाक्षाखिल सत्त्वधाम्नि
समाधिना वेशितचेतसैके ।
त्वत्पादपोतेन महत्कृतेन
कुर्वन्ति गोवत्सपदं भवाब्धिम् ॥३॥

(१०-२-३०)

परलोक में भी कल्याणकारी भगवच्चरण-सेवा है, इस विषय को श्रीब्रह्माजी के वाक्य से अनुमोदन करते हैं कि—“हे कमलनयन भगवन् ! विशुद्ध सत्त्वमूर्ति स्वरूप आप में निर्मल सत्त्वनिष्ठ विवेक-योग से लगाये हुये चित्त के द्वारा महत्सेवित् और बहु-मत नौका-रूप जो आपके चरण-कमल हैं, उनका आश्रय लेकर इस असार-संसार सागर को गोपद के तुल्य जानते हैं अर्थात् विना प्रयास ही संसार सागर से तर जाते हैं।

अथापि ते देवपदांबुजद्वय
प्रसादलेशानुगृहीत एव हि ।
जानाति तत्वं भगवन्महिम्नो
न चान्य एकोऽपि चिरं विच्छिन्नन् ॥४॥

(१०-१४-२६)

प्रश्न—क्यों जी ! तत्त्वज्ञान के बिना केवल भगवत्पाद-सेवन स्वरूप भक्ति द्वारा संसार-सागर से तर जाना कैसे हो सकता है ?

उत्तर—‘सत्य’ है, किन्तु वह तत्त्व ज्ञान भी तो भगवच्चरण सेवा से ही मिलता है, यद्यपि तत्त्व-ज्ञान के अनेक साधन हैं, तो भी हे भगवन् ! जो आपके चरण-कमल के अत्यल्प-प्रसाद के कृपा-पात्र हैं, वे ही आपकी महिमा के तत्त्व-ज्ञान को प्राप्त होते हैं, उनके सिवाय और कोई भी असत् का त्याग और सत् का ग्रहण करते हुये चिर काल तक विचार करके भी नहीं जानने को समर्थ हो सकता है, आपके चरण कमल का सेवी तो जान इ लेता है, यहाँ इलोक में विद्यमान ‘हि’ शब्द का अर्थ है।

न यत्प्रसादायुतभागलेश,

मन्ये च देवा गुरवो जनाः स्वयं ।

कर्तुं समेताः प्रभवन्ति पुँस

स्तमीश्वरं त्वां शरणं प्रपद्य ॥५॥

(८-२४-४६)

और आपके चरण कमल के प्रसाद से जो प्राप्त होता है, वह किसी से भी प्राप्त नहीं हो सकता है, यह श्री सत्यव्रत जी के वाक्य से दिखाते हैं, “कि अन्यान्य देवता और गुरुजन सब एकत्रित होकर भी स्वयं जिसकी कृपा के दश-सहस्रवें अंश के समान भी कृपा नहीं कर सकते हैं, उन आप ईश्वर के मैं शरण हूँ ।

मत्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन्

लोकान् सर्वानि निर्भयं नाध्यगच्छते ।

त्वत्पादाब्जं प्राप्य यदृच्छयाद्य

स्वस्थः शेते मृत्युरस्मादपैति ॥६॥

(१०-३-२७)

तत्त्व-ज्ञान का फल जो सर्व-भयों की निवृत्ति है, वह भी श्री भगव-त्सेवा से ही प्राप्त हो जाती है, यह श्री देवकीजी के मधुर वाक्यों से वर्णन करते हैं—“हे भगवन् ! कालव्याल से भयभीत होकर जीव सर्व लोकों में गया, किन्तु कहीं भी भय दूर नहीं हुआ, क्योंकि सर्व लोक काल ने ग्रसित कर रखे हैं, किन्तु हे आद्य ! सत्संग-स्वरूप भाग्य के उदय होने से जब यह जीव आपके श्री चरण-कमल-छत्र की छाया के समीप पहुँचा, तब स्वस्थ होकर सोता है । अर्थात् त्रय-ताप से निर्भय हो जाता है, क्योंकि इस आपके श्री चरण-कमल के सेवन के प्रभावसे मृत्यु दूर चला जाता है । यदि आपकी चरण-सेवा का ऐसा प्रभाव है तो मनुष्य के लिये व्याघ्रादिक हिंसक जंतुओं से भय न होगा इसका तो कहना ही क्या है ?

तस्माद्जोरागविषादमन्यु

मानस्पृहाभयदैन्याधिसूलम् ।

हित्वा गृहं संसृति चक्रवालं नृसिंहपादं भजता कुतोऽभयम् ॥ ७ ॥

(५-१८-१४)

श्रीचरण-कमल ही निर्भय पद है, यह भक्त-राज श्री प्रह्लाद जी के वाक्य से असुर बालकों के प्रति यह दिखलाते हैं—“कि हे असुरो ! जिस कारण यथार्थ रूप से महत्व भगवद्भक्ति से प्राप्त होता है, इसलिये आप सब गृह की आसक्ति को परित्याग कर नृसिंह भगवान् के ही श्री चरण-कमलों को भेजो । क्योंकि यह गृह-तृष्णा, राग, विषाद, क्रोध, अभिमान, स्पृहा, भय दीनता, मन की पीड़ा इत्यादि दुर्गुण और कष्टों का निदान कारण और जन्म-मरण रूप संसार के पौधे के उगने का ‘आलवाल’ अर्थात् घेरा है । और जन्म-मरण रूप संसार के चक्र को सदा चलाता रहता है । श्री चरण-कमल का नाम ‘अकुतोभय’ है, अर्थात् भगवत् चरणाश्रय में भय नाममात्र को भी नहीं है । जीव चरणाश्रय से सदैव के लिये निर्भय हो जाता है ।

अथात आनन्ददुघं पदाभ्युजं
हसाश्रयेरन्नरविन्दलोचन ।
सुखं न विश्वेश्वर योगकर्मभि
स्त्वन्माययामी विहृता न मानिनः ॥८॥

(११-२६-३)

प्रश्न—क्यों जी ! यदि चरण सेवन से मुक्त हो जाते हैं तो सभी चरण-कमल को क्यों नहीं भजते ? यह श्री उद्घव के वाक्य से प्रतिपादन करते हैं—

उत्तर—माया के द्वारा मोहित होने से अभागी जीव भगवच्चरणार-विन्द को नहीं भजते हैं । हे कमलनयन ! हे विश्वेश्वर ! आपकी चरण-सेवा को छोड़ कर जीव सर्वदा दुःखी ही रहते हैं, इसलिये जो लोग सार-असार के विचार में चतुर हैं, वे समस्त आनन्द परिपूरक आपके चरण कमलों को सुख पूर्वक भजते हैं । वे आपकी माया में मोहित नहीं होते हैं । और जो विषयी लोग हैं वे माया से मोहित होकर योग तथा कर्मों के घमण्ड में मग्न होने से आप श्रीश्यामसुन्दर को नहीं भजते हैं । अथवा वे आपके भक्त तो

आपकी माया से मोहित नहीं होते, इसलिये अपने को योग तथा कर्म करने वाला प्रवीण ! मान कर घमण्ड नहीं करते। दूसरे जो आपकी माया से मोहित होकर हम योग जानने वाले हैं और कर्म करने में चतुर हैं, ऐसे वृथा अभिमान करते हैं, वे मुक्त नहीं होते हैं, यह तात्पर्य है।

कृच्छ्रो महानिह भवार्णवमप्लवेशां
षड्वर्गं नक्रमसुखेन तितीरषन्ति ।
तत् वं हरेभर्गवतो भजनीयमङ्गिष्ठ
कृत्वोद्गुपं व्यसनमुत्तरदुस्तरार्णम् ॥६॥

(४-२२-४०)

प्रश्न—जब कि बहुत से कल्याण मार्ग हैं, तो फिर यही कैसे सार हो सकता है। इस प्रश्न का उत्तर श्रीसनतकुमारों के वाक्य से करते हैं। “कि जिन्होंने संसार-सागर तरने के लिये ईश्वर को जहाज स्वरूप से आश्रय नहीं किया है, उन पुरुषों को संसार-सागर के तरने में महान् क्लेश है, क्यों कि उन्होंने जिन योगादि मार्ग का आश्रय लिया है, वे सुखमय नहीं हैं। फिर उन्हीं योगादिक के द्वारा इन्द्रिय स्वरूप छः नक्र हैं जिसमें अथवा काम क्रोध, लोभ, मोह आदि छः हैं ग्राह जिसमें ऐसे धोर संसार को तरना चाहते हैं, अर्थात् जो लोग बिना ईश्वर का आश्रय लिये तरना चाहते हैं, वे कोरे ज्ञानी इसमें पड़ कर अनेक कष्ट उठाते हैं। इसलिये हे राजन् ! पृथुजी ! आप भगवान् हरि के भजने योग्य श्रीचरण-कमलों को नौका बनाकर क्लेशमय और दुस्तर इस संसार के पार हो जाइये।

कस्त्वत्पदाब्जं विजहाति पण्डितो,
यस्तेऽवमान व्ययमानकेतनः ।
विशङ्क्यास्मद्गुरुर्चति स्म यद्
विनोपपत्तिं मनवश्चतुर्दश ॥ १० ॥

(४-२४-६७)

इसलिये भगवच्चरणारविन्दों की सेवा नहीं त्यागनी चाहिये, इसी बात को स्पष्ट करने के लिये श्रीरुद्र-वाक्य से कहते हैं—कि आपकी सेवा

बिना, शरीर वृथा ही नष्ट हो रहा है, ऐसी मति जिसके हृदय में है ऐसा कौन चतुर मनुष्य आपके श्री चरण-कमलों को छोड़ सकता है। इसलिये विनाश होने की शङ्खा से दृढ़-विश्वासयुक्त होकर हमारे मुख श्रीब्रह्माजी तथा चौदह मनु आपके श्रीचरण-कमलों की ही पूजा करते हैं।

यत्पादसेवाभिरुचिस्तपस्विना

मशेषजन्मोपचितं मलं धियः ।

सद्यः क्षिणो त्यन्वह मेधती सती

यथा पदांगुष्ठविनिःसृता सरित् ॥ ११ ॥

(४-२१-३१)

श्रीचरण-सेवा की महिमा को तो रहने दीजिये, उसकी अभिरुचि भी कल्याण कारक है, श्री पृथुमहाराज के वाक्य से वर्णन करते हैं—कि श्रीहरि के चरण-कमलों के सेवन की पूर्ण रुचि, नित्य प्रति बढ़ कर श्रीहरि के चरणांगुष्ठ से निकली हुई गङ्गा के समान, संसार-नाप से तपे हुए जीवों के अनेक जन्माजित बुद्धि के मैल को शीघ्र ही नष्ट कर देती है। अर्थात् अभिरुचि के पूर्वोक्त प्रभाव में भगवच्चरण-स्पर्श की ही ऐसी महिमा है। इसी बात के स्पष्ट करने के लिए श्रीहरि-चरणनिःसृत गङ्गाजी का दृष्टान्त दिया है।

विनिर्धुताशेषमनोमलः पुमा

नसङ्घविज्ञानविशेषवीर्यवान् ।

यदडिंघ्रमूले कृतकेतनः पुन

नं संसृतिं वलेशवहां प्रपद्यते ॥१२॥

(४-२१-३२)

जब उस हरिभक्ति से पुरुष के मन का सम्पूर्ण मैल धुल जाता है, तब वह शुद्ध चित होकर वैराग्य के द्वारा साक्षात्कार रूप बल को प्राप्त हो कर भगवच्चरण-कमलों में स्थान को प्राप्त होता है। पुनः वलेश परिपूर्ण संसार-नद को नहीं प्राप्त होता है।

ऐसी मन की शुद्धि भगवच्चरण-सेवा की केवल अभिरुचि से ही हो जाती है। अन्य प्रकार से नहीं; यह तात्पर्य है।

कृष्णांघ्रिपद्मधुलिण्ण पुनर्विसृष्ट
मायागुणेषु रमते वृजिनावहेषु ।
अन्यस्तु कामहत आत्मरजः प्रमाष्टु
मीहेत कर्म यत एव रजः पुनः स्यात् ॥१३॥

(६-३-३३)

प्रश्न—क्योंजी कर्म से भी मन की शुद्धि हो सकती है फिर चरण-सेवन की क्या आवश्यकता है इस बात का उत्तर श्रीयम-वाक्य से देते हैं—

जो श्रीकृष्ण-चरण-कमल मकरन्द का भ्रमर है, अर्थात् चरण-सेवक है, फिर वह केवल पापों को उत्पन्न करने वाले मायामय विषयों में दृष्टि नहीं करता, अन्य पुरुष तो काम से पीड़ित होकर अपने पाप नाश करने के लिए कर्मों को ही करना चाहता है जिससे फिर पापों की उत्पत्ति ही होती है इसलिये चरण-सेवा ही सर्व-श्रेष्ठ है, यह तात्पर्य है।

तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो
भवेऽत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम् ।
येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां,
भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम् ॥१४॥

(१०-१४-३०)

उसी को श्री ब्रह्मा जी के वाक्य से स्पष्ट करते हैं—

इसलिए हे नाथ ! इस ब्रह्मा जन्म में अथवा इससे भिन्न पशु पक्षियों के जन्म में मेरा वह सौभाग्य प्राप्त होवे कि जिस भाग्य से मैं आपके भक्तों के बीच में कोई एक बनकर आपके श्री चरण-कमल की निरन्तर सेवा कर सकूँ ।

समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं
महत्पदं पुण्ययशो मुरारेः ।

भवाम्बुधिर्वर्त्सं पदं परं पदं
पदं पदं यद्विपदां न तेषाम् ॥१५॥

(१०-१४-५८)

यहाँ पर श्री शुक्र वाक्य से पुनः भगवच्चरण कमल की सेवा का फल वर्णन करते हैं—

जिस चरणारविन्द का महत्पुरुष आश्रय करते हैं, ऐसे परम पवित्र यश वाले मुरारी के श्री चरण-कमल स्वरूप नौका का जो आश्रय ग्रहण करते हैं, उनके लिए संसार सागर बछड़ा के खुर के समान हो जाता है, तथा वैकुण्ठवास-स्थान होता है एवं विपत्तियों का स्थान जो संसार है, वह फिर उनका स्थान नहीं होता है। अर्थात् वे फिर संसार में नहीं आते हैं।

लब्ध्वा जनो दुर्लभमत्र मानुषं
कथश्चिदव्यङ्गमयत्रतोऽनघ ।
पादारविन्दं न भजत्य सन्मति
र्ग्हहान्ध कूपे पतितो यथा पशुः ॥१६॥

(१०-५१-४७)

अब जो, ऐसे परम कल्याण प्रद भगवच्चरणारविन्द को नहीं भजता है, उसकी श्री महाराज मुचुकुंदजी के वाक्य से निन्दा करते हैं—

‘हे निष्पाप ! अति दुर्लभ जो मनुष्य शरीर है उस सर्वाङ्ग पूर्ण शरीर को इस लोक में बिना यत्न ही किसी प्रकार के भाग्योदय से प्राप्त कर के भी आप के श्री चरण-कमल को नहीं सेवन करता है, वह मन्दमति शूकर आदिक पशुओं के समान विषयों में ही अपनी मति को लगाने वाला, गृह स्वरूप अन्धे कूप में (घास से ढके हुए कूप में) पशु की तरह गिर पड़ता है।

विप्राद द्विषड्गुण युतादरविन्दनाभ
पादारविन्द विमुखाच्छ्रवपचं वरिष्ठम् ।
मन्ये तदर्पित मनो वचने हितार्थं
प्राणं पुनाति सकुलं न तु भूरिमानः ॥१७॥

(७-६-१०)

प्रश्न—भगवत् के चरणों की सेवा न करके स्वधर्मचिरण से ही जीव कृतार्थ हो सकता है। श्रीप्रह्लादजी के वाक्य से इसका उत्तर देते हैं—

उत्तर—बारह गुणयुक्त ब्राह्मण भी यदि भगवान् के चरण कमलों से विमुख हैं। और जिसने आप में मन वाणी और कर्म तथा धन अर्पण कर दिये हैं, ऐसा एक श्वपच है, इन दोनों में से मैं श्वपच को श्रेष्ठ मानता हूँ। क्योंकि वह श्वपच अपने कुल को भी पवित्र कर लेता है और बड़ा अभिमानी विप्र अपने को भी पवित्र नहीं कर सकता है, तो फिर कुल को कैसे पवित्र करेगा। इस कारण भगवत्सेवा से हीन पुरुष के ये गुण गर्व को ही उत्पादन करने वाले होते हैं, इसलिये जो भगवत्सेवा से हीन है, वही तीच है। यह तात्पर्य है।

तानानयध्वमसतो विमुखान्मुकुन्द
पादारविन्द मकरन्द रसादजस्तम् ।
निष्कञ्चनैः परमहंस कुलैरसज्जै
र्जुष्टादगृहे निरय वर्तमनिवद्ध तृष्णान् ॥१८॥

(६-३-२)

भगवत् के श्री चरणों की जो सेवा नहीं करता है, वह केवल नीच ही नहीं है, किन्तु यमराज के दिये हुए कष्टों को भी भोगता है, यह श्रीयमराज के वाक्य से दिखाते हैं—‘हे मेरे दूतो ! उन दुष्टात्माओंको मेरे समीप अति शीघ्र ही पकड़ कर लाओ, जो कि श्री भगवान् के चरण-कमलों की सेवा-मुख से विमुख होकर, नरक-मार्ग स्वरूप पाप मय गृह सुख में अतिशय तृष्णा वाले हैं। देखो सेवा-मुख इतना उत्तम कोटि का है, कि सब जगत् में प्रीतिरहित परमहंस-गण भी सब जगत् से विरक्त होकर जिस सेवा सुख में सर्वदा निमग्न रहते हैं।

देवदत्तमिमं लब्ध्वा नृलोकमजितेन्द्रियः ।
यो नः द्रियेत त्वत्पादौ स शोच्यो ह्यात्मवश्वकः ॥१९॥

(१०-६३-४१)

वस्तु-तस्तु जो भगवच्चरणारविन्द की सेवा से विमुख है, वह नर जीता ही मुर्दे के समान है, यह श्री रुद्र वाक्य से वर्णन करते हैं—‘हे महा-

राज ! आपकी अति कृपा से दिये हुये इस मनुष्य को लाभ करके जो अजितेन्द्रिय जीव आपके श्रीचरण-कमलों का सत्कार नहीं करता है, वह वास्तव में अपने को ही ठगने वाला है, अतएव सत्पुरुषों द्वारा शोक करने योग है ।

त्वत्पादुके अविरतं परि ये चरन्ति
ध्यायन्त्य भद्र नशने शुचयो गृणन्ति ।
विन्दन्ति ते कमलनाभ भवापवर्ग
माशासते यदि त आशिष ईशनान्ये ॥२०॥

(१०-७२-४)

हे कमलनाभ ! जो आपके चरणों का सेवक है, वह मुक्त है, यह श्री युधिष्ठिर महाराज के वाक्य से प्रतिपादन करते हैं—“हे कमलनाभ ! पापों के नाश करने वाले आपकी चरण-पादुकाओं की जो शुद्धान्तःकरण होकर शरीर से सदा सेवा करते हैं, तथा मन से ध्यान करते हैं और वाणी से स्तुति करते हैं, वे हीं संसार से मुक्त होते हैं, तथा यदि संसारी पदार्थों की चाहना करते हैं, तो उनको भी प्राप्त कर लेते हैं । और आपकी कृपाके बिना मुक्ति अथवा संसारी कामनाओं को चक्रवर्ती भी नहीं प्राप्त कर सकता ।

न नाक पृष्ठं न च सार्वभौमं
न पारमेष्ठचं न रसाधिपत्यम् ।
न योग सिद्धोरपुनर्भवं वा
बाज्ञन्ति यत्पाद रजः प्रपन्नाः ॥२०॥

(१०-१६-७)

वास्तव में तो यह बात है कि आपके चरण-सेवी भक्त कुछ भी नहीं चाहते हैं, यह श्री नागपतियों के वाक्य से वर्णन करते हैं—“जो भगवान् की चरण-रज के शरणागत अर्थात् श्रीचरणों के सेवक हैं, वे स्वर्ग, चक्रवर्ती राज्य, ब्रह्म-लोक, रसातल का आधिपत्य, एवं आणिमादिक योग-सिद्धियाँ और मोक्ष को भी नहीं चाहते हैं ।

न कामयेऽन्यं तव पादसेवना
दक्षिण प्रार्थ्य तमादरं विभो ।

आराध्य कस्तवामपदर्गदं हरे

वृणीत आर्यो वरमात्मबन्धनम् ॥२२॥

(१०-५१-५५)

जब आपके भक्त स्वर्गादिक को नहीं चाहते हैं, तो फिर क्या चाहते हैं ? ऐसी शङ्खा प्राप्त होने पर श्रीमुचुकुन्दजी के वाक्य से वर्णन करते हैं कि, हे प्रभो ! अकिञ्चन-भक्त भी परम-प्यारा समझ कर जिसकी प्रार्थना करते हैं, उस आपके चरणारविन्द की सेवा से भिन्न वर को मैं नहीं चाहता हूँ । हे हरे ! ऐसा कौन सज्जन है, जो मुक्ति-दाता आपकी सेवा करके अपने बन्धनकारी वर की याचना करे ? अर्थात् मैं तो आपके चरण-कमल की सेवा को ही चाहता हूँ ।

न वयं साधिव सात्राजयं स्वाराजयं भोज्यमप्युत ।

वैराजयं पारमेष्ठयं वा आनन्त्यं वा हरेः पदम् ॥२३॥

कामया मह एतस्य श्रीमत्पादरजः श्रियः ।

कुचकुंकुम गन्धाठयं मूर्धनविद्वुः गदाभृतः ॥२४॥

(१०-८३-५१४२)

प्रश्न—क्योंजी ! अपने बन्धन करने वाले दूसरे वरों को भक्त न माँगे तो न माँग, मोक्ष ने क्या अपराध किया है कि जिसको नहीं चाहते हैं ?

उत्तर—“सो ठोक नहीं”, क्योंकि जो श्रीकृष्ण सेवा का स्वादी है, उसको जैसे सेवा-मुख के विरोधी विषय अच्छे नहीं लगते ऐसे ही श्री कृष्ण सेवा से रहित होने से मोक्ष भी अच्छी नहीं लगती है, इसी बात को श्रीकृष्ण चन्द्र की महिलियों के वाक्य द्वारा वर्णन करते हैं कि—“हे साधिव महारानी द्रौपदी ! हमें सर्व भूमि का राज्य तथा इन्द्र-पद दोनों लोकों के भोग का भागीपन एवं अणिमादिक अष्ट-सिद्धियाँ, ब्रह्म-लोक, मोक्ष अथवा हरि का धाम वैकुण्ठ और द्वारिका आदिक नहीं चाहिए, किन्तु जिनको व्रज की लक्ष्मी हृदय और कुचों में परम-प्रेम से कमल-कुच कुंकुम-गन्ध युक्त चरणों की रज को मस्तक पर लगा कर कृतकृत्य होती रहें ।

को नु राजन्निन्द्रियदात् मुकुन्द चरणाम्बुजम् ।

न भजेत् सर्वतो मृत्युरूपास्य मम रोक्तमैः ॥२५॥

(११-२-२)

श्री शुकदेव जी कहते हैं कि—हे राजन् ! जो इन्द्रियों वाला है, और सब ओर से जिसको मृत्यु का भय है, ऐसा कौन ? ब्रह्मादिक भी जिसक

सेवा परमासक्ति से करते हैं, उन परमानन्द-स्वरूप श्री भगवान् के चरण-कमलों को न भजेगा, क्योंकि वह श्रीचरण-कमल ही काल के भय से रहित हैं।

मन्येऽकुतश्चिद् भयमच्युतस्य
पादाम्बुजोपासनमत्र नित्यम् ।

उद्धिग्न बुद्धे रसदात्मभावा

द्विश्वात्मना यत्र निवर्ततेभीः ॥२६॥

(११-२-३३)

यह कवि के वाक्य से वर्णन करते हैं कि, देह आत्मा समझना सर्व दुःखों का मूल है। उस देह में आत्माभिमान से जिसकी बुद्धि घबड़ा गई है, उसके लिये मैं यहाँ प्रतिदिन अच्युत भगवान् के चरण-कमलों की उपासना को सर्व भय मानता हूँ, जिस उपासना के करने से पूर्ण रूप से भय की निवृति हो जाती है।

त्यक्त्वा स्वधर्मं धरणाम्बुजं हरे

भंजन्न पव्वोऽथ पतेत्ततो यदि ।

यत्र वव वा भद्रमभूदमुष्यं किं

को वार्थं आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः ॥२७॥

(१-५-१७)

चरण-सेवा की ऐसी महिमा होने पर भी यदि कोई चरण-सेवा में प्रवृत्त होकर उसके फल को न प्राप्त हो सके, तो स्वधर्म-त्याग से अनर्थ की प्राप्ति तो उसे अवश्य होगी, इसी वात का उत्तर देते हैं कि, जो अपने नित्य नैमित्तिक धर्म को त्याग कर श्रीहरि के चरण कमल की भक्ति करते-करते अपरिपक्वावस्था में ही यदि भजन-मार्गसे च्युत हो जावे, अथवा बीच में ही शरीर को त्याग दे, तौ भी उस भक्ति-रसिक पुरुष को स्वधर्म त्यागने से अमङ्गल का भय हुआ है क्या? अर्थात् हे व्यासजी, आप सर्वज्ञ हैं, यदि हुआ हो तो कहिये। प्रत्युत [बल्कि] दूसरे जन्म में भक्ति के प्रताप से परम-पद को ही प्राप्त होता है, इस विषय में तो अनेकों दृष्टान्त हैं, और जो पुरुष भक्ति न करके केवल स्वधर्म का ही आचरण करता है, उसको अनर्थ स्वरूप स्वर्ग के अतिरिक्त कौन-सा कल्याण प्राप्त हुआ है, आप अपनी सर्वज्ञता से अवलोकन करके कोई इस विषय में साक्षी दीजिये। इस प्रकार दोनों सर्वज्ञों का वार्तालाप हो रहा है।

स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य
त्यक्तान्य भावस्य हरिः परेशः ।
विकर्म यज्ञोत्पतितं कथञ्चिद्
धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः ॥२८॥
(११-५-४२)

जो सिद्ध हो गया है, उसका तो पतन ही नहीं हो सकता, फिर गिरने की शङ्खा तो कैसे हो सकती है ? यह श्रीयोगेश्वर करभाजनजी के वाक्य से स्पष्ट करते हैं कि, अन्य विषयों की चिन्ता छोड़ कर अथवा अन्य देवों में प्रीति को त्याग कर अपने चरण-कमलों की सेवा करने वाले प्रिय भक्त से पाप की संभावना तो ही नहीं सकती । यदि कदाचित् प्रमाद से अर्थात् असावधानी से कोई पाप-कर्म बन भी जाय, तो भी हृदय-सदन में विराज-मान अघहारी श्रीहरि सब को नष्ट कर देते हैं ।

कोऽनु त्वज्ञरणाभोजमेवं विद्विसृजेत्पुमात् ।
निष्कञ्चनानां शान्तानां मुनीनां यस्त्वमात्मदः ॥२९॥

(१०-८६-३३)

अब पूर्व कथित वार्ता को ही वहुलाश्वजी के वाक्य से टृप्त करते हैं—

श्रीभगवान् को भक्तों के सामन कोई भी प्रिय नहीं, ऐसे समझने वाला कौन पुरुष आपके श्रीचरण-कमल को न भजेगा अथवा कौन भजन करने वाला श्रीचरणों को त्याग देगा ? क्योंकि निष्कञ्चन शान्त मुनियों के लिये भी आप अपने आत्मा का दान करते हैं, वे भी तो आपके बिना किसी चस्तु को भी अपना प्यारा नहीं समझते हैं, इसलिये वे निष्कञ्चन हैं ।

तावदभयं द्रविण गेह सुहन्निमित्तं
शोकःस्पृहा परिभवो विपुलश्वलोभः ।

तावन्ममेत्य सद्वग्रह आर्तमूलं
यावन्नतेऽङ्ग्रेमभयं प्रवृणीत लकेः ॥३०॥

(३-६-६)

अतिशय कथन करने की क्या आवश्यकता है, श्रीभगवत् के श्रीचरणों की सेवा से सर्व अनर्थों की निवृत्ति हो जाती है । धन, देह तथा सुहृदों की भक्ति-रत्नावली

स्थिति में चौर आदिकों से भय और निवृत्ति शोक-और फिर चाहना, तत्पश्चात् दूसरों से तिरस्कार ऐसे होने पर भी बड़ी भारी तृष्णा, यदि किसी प्रकार धनादिक मिल भी जायें, तो फिर उसमें ‘मेरा ऐसा खोटा दुराग्रह’ यह दोष तभी तक रहते हैं, जब तक सर्व भय-रहित आपके श्रीचरण-कमलों को सेवा के योग्य समझ करके जीव श्रीचरण-कमल का समाध्रय नहीं करता है। तत्पश्चात् सर्व भयों की निवृत्ति हो जाती है।

ज्ञान वैराग्य युक्तेन भक्तियोगेन योगिनः ।

क्षेमाय पादमूलं मे प्रविशन्त्य कुतो भवत् ॥३१॥

ऐसे ही योगियों के लिये भी यही अभय करने वाली वस्तु है, यह श्रीकपिल भगवान् के वाक्य से स्पष्ट करते हैं कि, श्रीभगवान् के चरण-कमलों की सेवा ही करनी चाहिये, ऐसे निश्चय का नाम ‘ज्ञान’ है। इस लोक और परलोक के पदार्थों का जो न रुचना है, वह ‘वैराग्य’ है। इन दोनों से युक्त भक्ति-योग के द्वारा योगी लोग अपने कल्याण के लिये सर्व भय-रहित मेरे श्रीचरण-कमल को भजते हैं।

इत्यच्युताङ्गिकं भजतोऽनुवृत्त्या

भक्तिविरक्तिर्भगवत्प्रबोधः ।

भवन्ति वै भगवतस्य राजं

स्ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात् ॥३२॥

(११-२-४३)

अब प्रकरण को श्री कवि योगेश्वर के वाक्य से समाप्त करते हैं— कि इस प्रकार जो निरन्तर श्रीभगवच्चरणारविन्दों की सेवा करता है, उसको प्रेम-भक्ति तथा अन्तःकरण में कोटानुकोटि कामदेव के मोहित करने वाले परम सुन्दर श्रीभगवान् के रूप का दर्शन और इसी दर्शन के आनन्द में मग्न होने से जगत् से वैराग्य, ये गुण अपने-आप प्राप्त हो जाते हैं। हे राजन् ! उसके बाद शीघ्र ही सर्वोत्कृष्ट शान्ति को प्राप्त होता है। अर्थात् श्रीभगवान् के श्रीचरणों की सेवा करने वाला श्रीभगवान् के परम-प्रसाद से कृतकृत्य हो जाता है।

इति पाद-सेवन-भक्ति निरूपण सप्तम-विरचनम्

अर्चन-भक्ति



[अष्टम विरचन]

अब इस अष्टम-विरचन में अर्चन-भक्ति का वर्णन करते हैं, अर्चन नाम पूजा का है—

यथा तरोमूल निषेचनेन

तृप्यन्ति तत्सकन्धभुजोपशाखाः ।

प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां

तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या ॥३॥

(४-३१-१४)

भगवान् की पूजा करने से सबकी पूजा हो जाती है, इसी का वर्णन करते हैं—

जिस तरह वृक्ष की जड़ के सींचने से मोटी शाखाएँ तथा डालें, फल पुष्पादि सभी पुष्ट होते हैं, और जैसे प्राण के लिए भोजन देने से सर्व इन्द्रियाँ तृप्त हो जाती हैं, इसी तरह भगवान् की पूजा करने से सब देव तथा सब जीवों की पूजा हो जाती है। प्रथक्-प्रथक्-पूजा करने से सबकी पूजा नहीं होती है।

यथा हि स्कन्ध शाखानां तरोमूलनिषेचनम् ।

एवमाराधनं विष्णोः सर्वेषामात्मनश्च हि ॥२॥

(८-५-४६)

प्रश्न—जैसे अन्य आराध्य-देवादि की पूजा, भगवत्-पूजन में ही हो जाती है, क्या अपनी भी इसी तरह पूजा हो जावेगी ?

उत्तर—जिस तरह वृक्ष की जड़ में जल डालने से उसकी मोटी-मोटी शाखाएँ अपने आप ही सिव्वित हो जाती हैं, इसी तरह विष्णु आराधन से सब प्राणियों की तथा आत्मा की भी पूजा हो जाती है ।

क्रिया कलापैरिदमेव योगिनः

श्रद्धान्विताः साधु यजन्ति सिद्धये ।

भूतेन्द्रियान्तः करणोपलक्षितं

वेदे च तन्त्रे च त एव कोविदाः ॥३॥

(४-२४-६२)

इसलिए जो भगवान की ही पूजा करते हैं, वे ही वेद और शास्त्रों के तत्त्व को जानने वाले हैं, यही कहते हैं—

जो योगी सिद्धि प्राप्त करने के लिए आपको भूतेन्द्रिय अन्तःकरण के नियन्ता उस रूप को ही कर्मों के द्वारा श्रद्धा से युक्त होकर अच्छी तरह से पूजते हैं, वे ही वेद और शास्त्रों के ज्ञाता हैं ।

चित्तस्योपशमोऽयं वै कविभिः शास्त्रं चक्षुषा ।

दशितः सुगमो योगो धर्मश्रात्मसुदावहः ॥४॥

अयं स्वस्त्ययनः पन्था द्विजाते गृहमेधिनः ।

यच्छ्रद्धयाप्तवित्तेन शुक्लेनेऽज्येत् पूरुषम् ॥५॥

(१०-८४-६३।३७)

पण्डितों ने शास्त्र के विचार से प्राप्त किये हुए ज्ञान स्वरूप नेत्रों द्वारा विचार कर भगवत्-पूजा को ही मन की शान्ति तथा आत्मा को आनन्द देने वाली एवं मोक्ष का सुगम उपाय और जीव मात्र का धर्म दिखलाया है । और गृहस्थ द्विजाति मात्र के लिये भी यही मार्ग मङ्गलकारी है कि वह गृहस्थ श्रद्धा युक्त नीतिपूर्वक उपाजित धन से निष्काम होकर भगवान की पूजा करे ।

नैवात्मनः प्रभुरयं निज लाभपूर्णे

मानं जनाद विदुषः करुणोवृणीते ।

यद्यज्ञनो भगवते विदधीतमानं

तत्त्वात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्री ॥६॥

(७-६-११)

भगवान् की पूजा में सभी का समान अधिकार है, यह दिखाते हैं—

यह भगवान् अपने आनन्द-सागर स्वरूप के अनुभव से ही सदा तृप्त हैं, इसलिए अल्पज्ञ जीव से अपने आनन्द के लिए संसार जीवों की तरह धनादि के द्वारा पूजा को नहीं चाहते हैं ।

तो क्या पूजा को नहीं ही चाहते ? वहाँ कहते हैं “दयालु हैं” इस लिए भक्त द्वारा की गई पूजा को चाहते भी हैं, क्योंकि धनादि के द्वारा भगवान् का जो मान किया जाता है वह मान जीव के लिए लाभदायक है, जैसे मुख पर तिलकादि शृङ्खार करने से प्रतिविम्ब की ही शोभा बढ़ती है, अर्थात् जीव के कल्याण करने के लिए भगवान् जीव द्वारा की हुई पूजा को कहते हैं ।

नूनं विमुष्टमत्यस्तव मायया ते

ये त्वां भवाष्ययदिमोक्षरा मन्यहेतोः ।

अर्चन्ति कल्पकतरुं कुणपोप भोग्य

मिच्छन्ति यत्स्पर्शजं नरकेऽपि नृणाम् ॥७॥

(४-६-६)

यदि परमेश्वर का मान अपना ही मान है, तो अति तुच्छ स्वर्गादि को चाहना भी व्यर्थ ही है, यह कहते हैं—

निश्चय उनकी बुद्धि को माया ने ठग लिया है, जो लोग जन्म-मरण को छुड़ाने वाले आपकी अति तुच्छ संसारी-पदार्थों की कामनाओं से पूजा करते हैं, आप कल्पवृक्ष हैं, आपको प्रसन्न कर जो मुर्दा के समान इस शरीर

से भोगने लायक विषय सुख को माँगते हैं, वे अत्यन्त ही मूर्ख हैं, क्यों कि इन्द्रियभोगों का सुख तो जीव को कूकर, शूकर आदि नरक योनियों में भी मिलता है, नागरिक योनियों के सुख के समान होने से चाहने योग्य नहीं है।

यत्पादयोरशठधीः सलिलं प्रदाय

द्वार्वकुरैरपि विधाय सर्तीं सपर्यमि ।

अप्युत्तमां गतिमसौ भजते त्रिलोकीं

दाश्वान् विवलवमनाः कथमातिमृच्छेत् ॥८॥

(८-२२-२३)

और इस भगवत्पूजा में भाव सिद्धि ही श्रेष्ठ सामग्री है, दम्भादि से बहुत खर्च किया हुआ धन भी पूजा की सामग्री नहीं है, यह कहते हैं—

जिन आपके चरणों में जीव सरल बुद्धि से जल मात्र चढ़ाकर और दूब मात्र से कोमल-कोमल अंकुरों से भी उत्तम पूजन करके उत्तम गति को प्राप्त होता है, उन चरणों में इसने शुद्ध मन से त्रिभुवन अर्पण कर दिया है, भला ऐसा मनुष्य कैसे कष्ट पहुंचाने के योग्य हो सकता है। इसलिए लोभ को छोड़ कर भगवान् की पूजा अपने धन के अनुसार करनी चाहिए।

एवं क्रियायोगपथैः पुमान् वैदिकतान्त्रिकैः ।

अर्चन्नभयतः सिद्धिमत्तोविन्दत्यभीप्सिताम् ॥९॥

(११-२७-४६)

अब प्रकरण को समाप्त करते हैं—

ऐसे ही वैदिक-तान्त्रिक क्रिया-योग मार्गों से भगवान् की पूजा करने वाला मनुष्य चाहने योग्य इस लोक के भोग और परलोक की मोक्ष-रूप सिद्धियों को मुझसे प्राप्त होता है।

इति अर्चन भक्ति निरूपण अष्टम् विरचनम् ।

बन्दन-भक्ति



[नवम विरचन]

समाद्यामङ्गलं नष्टं फलवांश्चैव मे भव ।
यन्नमस्ये भगवतो योगिदध्येयाङ्गिर पञ्चजम् ॥१॥

(१०-३८-६)

अब इस नवम-विरचन में बन्दन-भक्ति का वर्णन किया जाता है—
आज मेरे अमङ्गल नष्ट हो गये और मेरा जन्म भी आज ही सफल
हो गया है जिस कारण योगियों द्वारा ध्यान करने योग्य भगवान् के चरण
कमलों को नमस्कार करूँगा । नमस्कार करने से पहिले ही जन्म-सफल और
अमङ्गल नाश हो जाता है यह भक्ति-मार्ग की विलक्षणता है ।

तत्त्वेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणां
भुज्ञान एवात्मकृतं विपाकम् ।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते
जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक् ॥२॥

(१०-१४-८)

भगवत् नमस्कार के लिए केवल संकल्प उत्पन्न होने से जो फल होता
है उसका वर्णन हो चुका, अब वह नमस्कार करने का जो फल है उसको
कहते हैं जिसलिए आपके गुण अनन्त होने से आपका ज्ञान होना दुर्लभ है ।
इसलिए जो आपकी कृपा की वाट देखता हुआ अपने किये कर्मों के फलों का

भोग करता हुआ हृदय वाणी और शरीर से आपको नमस्कार करता है और इसी प्रकार अपना जीवन बिताती है वही मुक्ति जिसके चरण में है ऐसे भगवान में हिस्सेदार है। जो जीता रहता है वही पिता की संपत्ति में हिस्सेदार होता है भक्ति-मार्ग में लगे रहना ही जीवित रहना है जो नमस्कार भक्ति में ही लगा रहेगा वह अवश्य ही भगवान् को पायेगा।

“नारायण हरि कृपा की चाहत रहे नित बाट ।
जानहार जिमिपार को निरखत नौका घाट ॥”
पतितःस्खलितो चार्तः क्षुत्वा वा विवशो गृणन् ।
हरये नम इत्युच्चैमुर्च्यते सर्वपातकात् ॥३॥
(१२-१२-४६)

यहाँ असम्भव को दूर करते हुए कैमुतिक न्याय से उसी बात को कहते हैं—निश्चय जानो कि कूपादि में गिरते समय सिड्डी आदि से पड़ते हुए ज्वरादि से पीड़ित सेमय छींक लेते और दूसरे के भय से परवश होकर भी जो ‘हरये नमः’ हरि के लिए उच्च स्वर से नमस्कार करता है, वह सर्व पापों से मुक्त हो जाता है।

खं वायुमग्नि सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्वानि दिशोद्रुमादीन् ।
सरित् समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्कञ्चभूतं प्रणमेदनन्यः ॥४॥
(११-२-४१)

इसमें भक्तों का जो कर्तव्य है वह बताया जाता है—आकाश, पवन, अग्नि, जल और पृथ्वी, नक्षत्र, प्राणि मात्र दिशाएँ, वृक्ष, नदियाँ और समुद्र अन्य जो भी कुछ पदार्थ हैं वह सब हरि का शरीर है ऐसा समझकर अनन्य भाव से सबको प्रणाम करे हरि सर्व जगत् के अन्तर्यामी होने से आत्मा हैं और जड़ चेतनमय सर्व जगत् हरि के आधीन होने से हरि का शरीर है।

इति वन्दन भक्ति निरूपण नवम विरचनम् ।

दास्य-भक्ति

—○●○—

[दशम विरचन]

यन्नामश्रुतिमात्रेण पुमान् भवति निर्मलः ।
तस्य तीर्थपदः किञ्चिं दासानामवशिष्यते ॥१॥

(६-५-१६)

इस दशम विरचन में दास्य भक्ति का वर्णन किया जाता है कि भगवत् के दास हो कृतार्थ हैं—जिस भगवान् के नाम श्रवण मात्र से पुरुष निर्मल हो जाता है उस गङ्गा आदि तीर्थों के आश्रय चरण वाले भगवान् के दासों को कौन-सी वस्तु प्राप्त नहीं है अर्थात् दासपन सबसे उत्तम है वह जिसको प्राप्त हो गया है, उसने सभी साधनों का आचरण कर लिया और सभी फल प्राप्त कर लिया ।

तावद्रागादयःस्तेनास्तावद् कारागृहं गृहम् ।
तावन्मोहाडिंघ्र निगडो यावत्कृष्ण न ते जनाः ॥२॥

(१०-१४-३६)

दास्य-भाव वाला इस लोक में ही कृतार्थ है, यह कहते हैं—हे कृष्ण ! रागादिक, धैर्य, विवेकादि के चुराने से तभी तक चोर हैं, तथा गृह भी तभी तक कारागार है और मोह [ममता] भी तभी तक ही पैर को बाँधने वाला साँकल है, जब तक जीव आपके दास नहीं होते हैं । पहले विषयों में जो राग था वह धैर्यादि का हरण करने वाला था, अब भगवत् के दास हो जाने पर वही राग भक्ति के साधनों में गिना जाता है, इसलिए वह शाह है, चोर नहीं

ऐसे ही घर निरर्थक पोषणादि रूप महा दुःख के देने वाले होने से कारागार हैं, अब तो गृह सम्बन्धी सर्व व्यवहार भगवत्सेवा रूप होने से गृह में रहना बैकुण्ठ वास के समान हैं। पहले पुत्रादि में जितने प्रकार की ममता थी, वह बेड़ी रूप थी। अब ममता भक्ति के साधनों में ही गई है, इसलिए मोक्ष का कारण है। इससे यह सिद्ध हुआ कि विषय त्याग के बिना भी दास भाव जीव का उपकार करता है।

किञ्चित्रभच्युत तवैतदशेषवन्धो

दासेष्वनन्य शरणेषु यदात्मसत्वम् ।

योऽरोचयत् सहस्रौः स्वयमीश्वराणां

श्रीमत्किरीट तटपीडित पादपीठः ॥३॥

(११-२६-४)

परलोक में भगवत् के पास दास्य-भाव पहुंचा देता है, यह कहते हैं— हे अच्युत हे सबके हितकारी ! अनन्य दासों को आप अपने तुल्य कर लेते हो, सो इसमें कुछ भी आश्र्य नहीं है। ब्रह्मा आदि ईश्वरों के मुकुट आपको चरण-चौकी मे टकराते हैं, तो भी दास्य भाव से प्रसन्न होकर आपने बानरों के साथ मित्रता का व्यवहार किया। ऐसे स्वभाव वाले आप मनुष्य दासों का उद्धार करें तो क्या आश्र्य है।

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा

बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावात् ।

करोति यद्यत्सकलं परस्मै

नारायणायेति समर्पयेत्तत् ॥४॥

(११-२-३६)

सब कर्मों का भगवान् के लिए अर्पण करना ही दास्य-भाव का निजी रूप है। उसी को दिखाते हैं—

शरीर, वाणी, मन, इन्द्रियाँ, बुद्धि चित्त अथवा अहङ्कार के द्वारा और अपने में रहने वाले स्वभाव से भी जो-जो कर्म करे उन सबको नारायण की भेंट करे ऐसा करने से सकल कर्मों का अर्पण स्वरूप दास्य भाव निभता (निर्वाहि को प्राप्त होता) है, यह तात्पर्य है।

इति दास्य-भक्ति निरूपण दशम विरचनम् ।

सरव्य भक्ति

[एकादश-विरचन]

इस विरचन में सखा-भाव का वर्णन करते हैं—

अहोभाग्यमहोभाग्यं नन्दगोपवज्रौकसाम् ।

यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥ १ ॥

(१०-१४-३२)

भगवत् के सखाओं की महिमा का वर्णन और जानना अशक्य है, यह कहते हैं—

ब्रजराज के ब्रज में वास करने वाले गोपों के धन्य-भाग्य हैं, धन्य भाग्य हैं । क्योंकि परमानन्द स्वरूप सनातन पूर्ण मित्र है ।

यहाँ पर 'अहोभाग्य' शब्द दुबारा कहने से आदर सूचक मालूम होता है । तात्पर्य यह है कि सखाओं की महिमा सदा निरवधिक (सीमा रहित) है, इसलिए कोई भी सखाओं की महिमा को तौल नहीं सकता । ब्रह्म शब्द से स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण समझता, जिससे बड़ा तथा जिसके बराबर कोई भी आनन्द नहीं है, वह सब से उच्च-कोटि का आनन्द परमानन्द कहाता है, ऐसा एक श्याम स्वरूप ही है । मित्रता का भङ्ग चाहना से होता है, कृष्ण तो स्वयं परमानन्द स्वरूप है, इसलिए कृष्ण को मित्रों से कुछ भी चाहना नहीं । और मित्र भी परमानन्द स्वरूप श्रीकृष्ण के मिल जाने से श्रीकृष्ण से अन्य वस्तु को नहीं माँगते हैं । परमानन्द में सभी का प्रेम है, इसलिए परम आनन्द को सभी चाहते हैं, इसलिए सखाओं का श्रीकृष्ण के साथ कभी विरोध नहीं हो सकता है । श्रीकृष्ण पूर्ण हैं, अतः स्वार्थ रहित हैं, प्राकृत-मित्र की भाँति स्वार्थ सिद्ध न होने से सखाओं को नहीं छोड़ सकते हैं । श्रीकृष्ण मित्र सनातन हैं, अर्थात् नाशरहित होने से जैसे विरह-दुःख की शंका उनसे रहती है, ऐसे श्रीकृष्ण के विरह-दुःखकी शङ्का भी नहीं है ।

एवं मनः कर्मवशं प्रयुड्दक्ते

अविद्यात्मन्युपधीयमाने ।

प्रीतिर्नयावन्मयि वासुदेवे

न मुच्यते देहयोगेन तावत् ॥२॥

(५-५-६)

अब सख्य का फल व्यतिरेक द्वारा दिखाते हुये समाप्त करते हैं—

जिस प्रकार संसार बढ़े इस प्रकार प्राचीन और नवीन कर्म मनको ही निष्ठा वाला कर देता है । फिर मन कर्ममय होजाता है, जो वस्तु जिसके आधीन होती है वह उसी का स्वरूप कही जाती है । मन किस समय कर्ममय होता है—जब अविद्या-स्वरूप उपाधि से जीव का स्वरूप जीव को न मालूम पड़ कर देहाध्यास से देह रूप मालूम पड़ता है, तब मन कर्ममय हो जाता है अर्थात् अविद्या संसारी-जीव के मन को ऐसे ही उकसाती है, जिससे कि संसार बढ़ता ही जावे तो फिर निस्तार कैसे होगा ? यहाँ कहते हैं—

जब तक मुझ वासुदेव में सख्य प्रेम नहीं होता तब तक देह से तथा देह-सम्बन्ध से होने वाले दुःखोंसे जीव का छुटकारा नहीं होता है, अर्थात् मेरे में सखा भाव से ही सर्व अनर्थ नष्ट होते हैं, इसलिये मुझमें सख्य भाव करें ।

॥ इति सख्यभक्ति निरूपण एकादश विरचनम् ॥

आत्मनिवेदन-भक्ति

[द्वादश-विरचन]

अब आत्म निवेदन का निरूपण करते हैं।

मत्यो यदा त्यक्त समस्त कर्मा निवेदितात्मा विच्चिकीषितो मे ।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो मयात्मभूयाय च कल्पते वै ॥१॥

(११-२६-३४)

जिसने भगवान् के लिए आत्मा का निवेदन (समर्पण) कर दिया है, उसके सब अनर्थ भगवत्कृपा से दूर हो जाते हैं, यह कहते हैं—

मनुष्य जब भक्तों की कृपा के प्रसाद से सब कर्मों को छोड़कर मुक्ति में ही आत्मा को भेंट कर देता है, अर्थात् जैसे बेचे हुए अथवा दान किये हुए पशु आदिक के पात्रन-पोषण आदि की चिन्ता को पहला मालिक नहीं करता है, ऐसे ही जो भगवान् के लिए देहादि आत्मपर्यन्त को भेंट करके निश्चिन्त रहता है, तब मैं उसको सर्व ज्ञानी आदिकों से श्रेष्ठ बना देता हूँ। फिर वह मृत्यु से छूट कर मेरे समान ऐश्वर्य को प्राप्त होता है।

धर्मर्थं काम इति योऽभिहितस्त्रिवर्गं

ईक्षात्रयोनयदमौ विविधी च वार्ता ।

मन्ये तदेतदखिलं निगमस्यसत्यं

स्वात्मार्पणं स्वसुहृदः परमस्य पुंसः ॥२॥

(७-६-२६)

प्रश्न—यदि सर्व कर्मों का त्याग करके आत्म-निवेदन ही श्रेष्ठ है, तो कर्मों की विधियाँ सब व्यर्थ हो जावेंगी, इसका उत्तर देते हुए समाप्त करते हैं।

उत्तर—धर्म, अर्थ (धन), काम (विषय), यह जो त्रिवर्ग कहा गया है और आत्म-विद्या, कर्म-विद्या, तर्क, दण्ड और नीति अनेक प्रकार की जीविका, ये सब वेद के कहे हुए पदार्थ यदि अपने परम प्यारे परम-पुरुष भगवान् के लिए आत्मार्पण के साधक होवें तो सब ही सत्य है, नहीं तो सब असत्य ही है। अथवा इन सबको मैं त्रिगुणमय पदार्थों के वर्णन करने वाले वेद का कहा हुआ मानता हूँ। सत्य तो माया के गुणों से अतीत जो भगवान् के लिए अपने आत्मा का निवेदन है, उसको मानता हूँ।

इति आत्म-निवेदन निरूपण द्वादश-विरचनम्

भगवत्-शरणाग्नि

[त्रयोदश-विरचन]

देवर्षि भूताम् नृणां पितृणां न किञ्च्चंरो नायमृणी च राजन् ।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्त्तम् ॥१॥

(११-५-४१)

अब यह कहते हैं कि लौकिक वैदिक-साधनों से जो हीन हैं, उनके लिए भगवत्-शरण में प्रवेश ही कल्याणकारी है। जो भगवान् के शरण में प्रविष्ट है, वह चाहे अन्य देवताओं की सेवा को छोड़ भी दे, तो भी उसका अकल्याण नहीं है, यह कहते हैं—

हे राजन् ! कर्तव्य को छोड़ कर जो बुद्धिमान व्यक्ति मन, वाणी और काया से शरणागत-पालक हरि के चरणों की शरण में रहता है, वह देव, ऋषि, पितृगण, कुटुम्ब या अन्यान्य मनुष्यों का ऋणी या किंकर कभी नहीं है ।

किं दुरापादनं तेषां पुंसामुद्दामचेतसाम् ।
यैराश्रितस्तीर्थपदश्चरणो व्यसनात्ययः ॥२॥

(३-२५-४१)

केवल देवताओं का ही दास और ऋणी नहीं है, यही न समझना किन्तु सब मुखों का भागी भी हो जाता है, यह कहते हैं—

कर्दम-ऋषि का विमान से सर्वत्र विचरण और देवताओं से भी उत्तम हो जाना यह क्या बड़ी बात है। जिन लोगों ने इस लोक और स्वर्गादि लोकों के संसार-दुःखों से छुड़ाने वाले हरि के तीर्थ स्वरूप चरणों का आश्रय ग्रहण किया है, उन धीर-पुरुषों को क्या दुर्लभ है, अर्थात् सभी सुलभ है ।

शारीरा मानसादिव्या वैयासे येचमानुषाः ।

भौतिकाश्र कथं वलेशांवाधो न हरि संश्यम् ॥३॥

(३-२२-३४)

इस लोक में वासनाओं का नाश हो जाता है, इसको दिखाते हैं—

हे विदुर ! मनु को किसी समय कोई भी क्लेश-वाधा न दे सका, क्योंकि शरीर-सम्बन्धी व्याधियाँ-रूप क्लेश कामादि-रूप मानसिक-क्लेश अर्थात् ये दोनों आध्यात्मिक क्लेश तथा वज्रपात, शीत, उष्ण, पवन, वर्षादि से उत्पन्न होने वाले आधिदैविक क्लेश और शत्रु-व्याघ्र चोर, सर्पादि प्राणियों से होने वाले आधिभौतिक क्लेश हैं, इन सब को मनुष्य भोगते हैं, परन्तु जो हरि का अच्छी तरह आश्रय करते हैं, उनको क्लेश-दुःखित कैसे कर सकते हैं अर्थात् नहीं कर सकते ।

यत्र निविष्टमरणं कृतान्तोनाभि मन्यते ।
विश्वं विध्वं सयन् वीर्यशौर्यं विस्फूर्जितभ्रुवा ॥४॥

(४-२४-५६)

अब परलोक में कष्टों के नाश को दिखाते हैं—जो काल अपने प्रभाव और उत्साह से चञ्चल-मोह के संकेत से विश्व का विनाश करता है, वह भी आपके चरणों की शरण में आये हुए पुरुष के ऊपर अपने अधिकार का—मैं इस पर अपनी प्रभुता कर सकता हूँ, ऐसा अभिमान नहीं कर सकता ।

अविस्मितं तं परिपूर्णकामं स्वेतैवलाभेन समं प्रशान्तम् ।

विनोपसर्पत्यपरं हि वालिशः श्वलांगुलेनाति तितर्ति सिन्धुम् ॥५॥

(६-६-२२)

हाँ ! ठीक, भगवान् की शरणागति जैसी कही, वैसी ही है, पर हम दूसरे देवों की शरण से भगवान् की शरण में क्या भेद है, यह जानना चाहते हैं ।

जो उस भगवान् को छोड़ दूसरे देवों की शरण लेता है, वह मूर्ख है, क्योंकि वह कुत्ते की पूँछ को पकड़ कर सागर को तरना चाहता है। जैसे कुत्ता ही स्वयं सागर को नहीं तर सकता, तो फिर अपनी पूँछ पकड़ने वाले को कैसे तरा सकेगा। ऐसे ही देवता स्वयं सामार में डूबे हुए हैं, फिर वे अपने शरणागति को कैसे तार सकते हैं। भगवत् के शरण में आया हुआ जो संसार-सागर को तर जाता है, इसमें कोई आश्रय नहीं है अर्थात् जिसका पार होना मुश्किल है, ऐसे संसार से पार यदि दूसरा पहुँचा दे, तो आश्रय भी है, भगवान् में क्या आश्रय है, क्योंकि भगवान् में ऐसी शक्ति है कि वे भक्तों के लिए संसार-सागर को बछड़ा के खुर के समान कर देते हैं और अपने आनन्द रूप के सदा साक्षात्कार होने से सांसारिक-पदार्थों की कामना से रहित हैं और भक्तों के अपराधों को क्षमा

करते हैं, इसलिए प्रशान्त हैं। ऐसे भगवान् की शरणागति से तर जाना कोई आश्रय नहीं है।

बालस्थनेह शरणं पितरौ नृसिंह

नार्तस्य चागदमुदन्वनिमज्जतो नौः ।

तपस्य तत्प्रतिविधिर्य इहाञ्ज्ञसेष्ट

स्तावद्विभोतनुभृतां त्वदुपेक्षितानाम् ॥६॥

(७-६-१६)

प्रश्न—दुःखों से जो तप रहा है उसके संताप की निवृत्ति के उपाय संसार में औषधि आदि प्रसिद्ध ही हैं और वेद में दुःख नाश करने वाली अनेक देवों की भक्ति भी कही है इसलिए भगवान् ही शरण हैं यह कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर श्रीप्रह्लाद-वाक्य से देते हैं—

हे नृसिंह ! दुःखों से तपे हुए व्यक्ति के दुःख नाश के लिए जो उपाय लोक में प्रसिद्ध हैं वे उपाय, जिनकी आप रक्षा नहीं करना चाहते, उनकी रक्षा नहीं कर सकते हैं बालक के लिए माता-पिता और रोगी के लिए औषधि और सागर में डूबते हुए के लिए नौका रक्षक नहीं हो सकती है क्योंकि माता-पिता के रहने पर भी बालक को दुःख मिलता है, औषधि के रहने पर भी रोगी की मृत्यु हो जाती है, नौका के प्राप्त होने पर भी नौका सहित डब जाते हैं। अतः दुःख दूर करने के लिए आप हीं शरण करने के योग्य हैं।

कः पण्डितस्त्वदपरं शरणं समीयाद्

भक्तप्रियाहृतगिरः सुहृष्टः कृतज्ञात् ।

सर्वान् ददाति सुहृदो भजतोऽभिकामा

नात्मानमप्युपचयापचयौ न यस्य ॥७॥

(१०-४-२६)

इस लिए भगवान् को छोड़ जो दूसरे का आश्रय लेता है वह मूर्ख है, यह कहते हैं—

हे नाथ ! आप भक्तवत्सल हैं और आपने शरणागतों के उद्वार के लिए जो वाक्य कहे हैं, वे सत्य हैं, आप कृतज्ञ हैं अर्थात् थोड़े किये हुए को बहुत मानते हैं तथा सबके हितकारी हैं, इसलिए जिस प्रकार भक्त का हित होता है, उसको स्वयं ही समझकर देते हैं जो आपके निष्काम प्रेमी

जन भजन करते हैं आप सब प्रकार उनकी सब अभिलाषाओं को पूर्ण करते हैं इतना ही नहीं किन्तु अपने को भी उनके लिए देते हैं ऐसे स्वभाव वाले आपको छोड़कर दूसरे की शरण में कौन बुद्धिमान् पुरुष जायगा ।

प्रश्न—यदि भगवान् अपना भी दान कर डालते हैं तो भगवान् के लिए बहुत कमी हो जायगी दूसरे भक्तों के लिए क्या देंगे ? कहते हैं—

आपकी वृद्धि और कमी नहीं होती । कोटानुकोटि ब्रह्माण्डों के पदार्थों की भेट कोटानुकोटि ब्रह्मा आदि भक्त आपके लिए करते हैं तो भी आपके यहाँ कोई प्रकार की वृद्धि नहीं होती है अर्थात् भगवान् अपना तथा अपनी संपत्ति का कितना भी दान क्यों न करें तब भी समाप्त नहीं होते, क्योंकि अनन्त स्वरूप हैं तथा अनन्त सम्पत्ति वाले हैं ।

अहो वकी यं स्तनकालकूटं जिधांसयापाय यदप्यसाध्वी ।

लेभेगर्ति धात्र्युचितांततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ॥८॥

(३-२-२३)

प्रश्न—भगवत्शरणागति से ही सम्पूर्ण कल्याण कैसे मिल सकते हैं ?

उत्तर—भगवान् कृपालु और समर्थ हैं, इसलिए कुछ भी असम्भव नहीं है, यह कहते हैं—

पूतना ने स्तन में कालकूट-विष लगाकर मारने की इच्छा से दूध पिलाया तो भी भगवान् ने उस दुष्टा को माता के योग्य उत्तम गति का दान किया जो भक्त के देश से ही उत्तम गति का दान करता है उनसे बढ़ कर और कौन दयासागर है कि हम जिनकी शरण में जावें अर्थात् वही एक शरण करने योग्य है ।

तापत्रयेणाभिहतस्य घोरे संतप्यमानस्य भवाध्वनीश ।

पश्यामिनान्यच्छरणंतवाडिग्र द्वन्द्वातपत्रादमृताभिवषति ॥९॥

(११-१६-६)

उसी को स्पष्ट करते हैं—

हे ईश्वर ! घोर संसार-सागर-मार्ग में जो व्यक्ति विविध ताप से पीड़ित है, इसलिए अच्छी तरह तप रहा है । उसके लिए शान्ति देने वाला सब और से अमृत की वर्षा करने वाले आपके दोनों चरण रूप द्यत्र के सिवाय और कोई मुझे नहीं दीख पड़ता है । धूप से बचाना, अमृत की वर्षा से शोतल कर देना, ये दो कार्य आपके चरण-कमल के हैं ।

चिरमिह वृजिनार्तस्तप्यमानोऽनुतापे
 रवितुष षडमित्तोऽलब्धशान्तिः कथञ्चित् ।
 शरणदसमुपेतस्त्वत्पदाब्जं परात्म
 न्नभयमृतमशोकं पाहिमापन्नमीश ॥१०॥
 (१०-५१-५८)

मुचुकुन्द-वाक्य से भगवान् की शरण में प्रवेश करते हुए ग्रन्थ समाप्त करते हैं—

हे परमात्मन् ! हे शरणद ! इस संसार में अनादि काल से कर्मों के फलों को भोगता हुआ पीड़ित हूँ, और अनेक प्रकार की वासनाओं से तपता जा रहा हूँ, इसलिए पञ्च-ज्ञानेन्द्रिय और एक मन छः बैरी विषयों की तृष्णा से रहित नहीं होते हैं इसलिए कहीं भी किसी प्रकार मी शान्ति को न पाकर मैंने आपके नाश रहित सर्वभयों से रहित और शोक हीन-चरणों को आश्रय बनाया है । हे ईश्वर ! आपत्ति ने मुझे घेर लिया है, अतः मेरी रक्षा करो ।

एवं श्री श्रीरमण भवता यत्समुत्तेजितोऽहं
 चाञ्चल्ये वा सकलविषये सारनिर्धारणे वा ।
 आत्मप्रज्ञाविभवसदृशैस्तत्रयतन्मर्ममेततः
 साकंभक्तैरगतिसुगते तुष्टिभेद्हि त्वमेव ॥११॥

अब इस रत्न-माल के गुहने वाले श्रीविष्णुपुरीजी अपने कर्म को भगवान् के अर्पण करते हैं—

यह जो मैंने ग्रथन (गृहन) किया है, यह केवल चञ्चलता स्वरूप हो अथवा सकल शास्त्रों के सार का निचोड़ किया हो, हे श्रीरमण ! यह सब आपकी प्रेरणा से किया है और मैंने भी अपनी बुद्धि की समूर्ख शक्ति लगाकर इस विषय के निरूपण करने में अनेक प्रकार ये यत्न किये अर्थात् आपकी आज्ञा का पालन किया, अब इन ग्रथन-यत्नों से अगतियों को मुन्दर गति के देने वाले भगवत् ! अपने भक्तों के सहित आप ही प्रसन्न होंगे, इस प्रकार मैं अपने कर्म को आपकी भेट करता हूँ ।

साधूदां स्वतएव सम्मतिरह स्थादेव भवत्यथिना
 मालोच्य ग्रथनश्चमं च विदुषामस्मिन् भवेदादरः ।

येकेचित्परकृत्युपश्रुतिपरास्तान् प्रार्थये मत्कृति,
भूयोबीक्ष वदन्त्ववद्यमिहचेत् सा वासना स्थास्थति ॥१२॥

मेरी यह कृति सब की सम्पत्ति के योग्य है, यह कहते हैं—
जो भक्त हैं उन्हें तो भक्ति से ही प्रयोजन है, इसलिए वे तो अपने
आप ही इस ग्रन्थ के पाठ तथा विचागादि के लिए ग्रहण कर लेंगे और
भक्तों द्वारा प्रशंसित होने से विषयी लोग भी इसकी प्रशंसा करेंगे क्योंकि उनमें
युक्तियों के ग्राहक विद्वान हैं, नाना प्रकरणों के श्लोकों का मेल मिलाकर
लिखने का जो परिश्रम है, उसको ख्याल करके इसका आदर करेंगे। और
जो दूसरे की निन्दा करने में तत्पर हैं, उनसे भी मेरी यह प्रार्थना है कि
इस मेरी ग्रथन रूप-कृति को बारंबार विचार कर इसमें दोष तब लगाना
जब कि भक्ति की महिमा को जानने पर भी परनिन्दा की हो, अर्थात्
इस ग्रन्थ के अधिकार विचार से जब भक्ति ही हृदय में प्रकट हो जायगी तो
फिर पर-निन्दा की दुष्ट इच्छा कैसे ठहर सकती है।

एषस्यामहमल्पबुद्धि विभवोऽप्येकोऽपि कोऽपि ध्रुवम्,

मध्ये भक्तजनस्य मत्कृतिरियं न स्यादवज्ञास्पदम् ।

कि विद्याः सरघाः किमुज्जवल कुलाः किम्पौरुषाः किंगुणा,
स्ततु कि सुन्दरमादरेण रसकैर्नपीयते तन्मधुः ॥

यद्यपि मुझ में बुद्धि की शक्ति थोड़ी है और महात्माओं की सभा
में मेरी प्रतिष्ठा भी नहीं है, और कुल-शील भी मेरे प्रसिद्ध नहीं हैं, तब भी
भगवद्भक्ति के बारे में जो यह स्थूल कृति है, वह भक्त-जनों की सभा में
अनादृत नहीं होगी अर्थात् अपने माहात्म्य से इसका आदर अवश्य होगा इसमें
दृष्टान्त दिखाते हैं—जैसे शहद की मक्कियों में कौन सी विद्या है? कौन सा
उज्जवल कुल है? कौन सी परोपकारादि रूप सामर्थ्य है? और कौन से शम
दमादि गुण हैं? अर्थात् विद्या आदि कुछ भी नहीं है, तो भी उनके द्वारा
एकत्रित किया हुआ शहद, जो कि स्वभाव से ही सुन्दर है, उसको रसिक-जन
क्या श्रद्धा से पान नहीं करते हैं? किन्तु पीते ही हैं। ग्रन्थकार की यह बात
दीनता पूर्ण है, वास्तव में तो इन महानुभावों में बुद्धि-वैभव अद्याह है।

इत्येषा वहु यत्नतः खलु कृता श्रीभक्तिरत्नावली,

तत्प्रीत्यैव तथैवसंप्रकटिता तत्कान्तिमालामया ।

अत्र श्रीधर सत्तमोक्ति लिखने न्यूनाधिकं यत्त्वभूत,
तत्क्षन्तुं सुधियोऽर्हति सुरचनालुब्धस्य मे चापलम् ॥

वाराणस्यां महेशस्य सान्निध्ये हरिमन्दिरे ।
भक्तिरत्नावली सिद्धासंहिताकान्तिमालया ॥
महायज्ञ शरप्राण शशांक गुणिते शके ।
फालगुने शुक्ल पक्षस्य द्वितीयायां सुमङ्गले ॥

इति श्री भक्तिरत्नावल्यां परमहंस श्री विष्णुपुरी ग्रथितायां
त्रयोदश विचरनम् ॥



श्रीराधानन्दात्मजाभ्यां नमः

अविनयमपनय विष्णो दमय मनः शमय विषयरसतृष्णां
भूतदयां विस्तारय तारय संसार सागरतः ॥१॥
दिव्य धुनी मकरन्दे परिमल परिभोग सञ्चिदानन्दे ।
श्री पति पदारविन्दे भव भय खेदञ्छिदे वन्दे ॥२॥
सत्यपि भेदापगमे नाद्य तवाहं न मामकीनस्त्वं ।
सामुद्रोहि तरङ्गः ववचन समुद्रो न तारङ्गः ॥३॥
उद्धृत नग नगभिदनुज दनुज कुलामित्र शशि हृष्टे ।
टृष्टे भवति प्रभवतिकिन्न भवति भवताप संहार ॥४॥
मत्स्यादिभिरवतारै रवतारवतावता वसुधां ।
परमेश्वर परिपाल्यो भवता भवतापभीतोऽहम् ॥५॥
दामोदर गुणमन्दर सुन्दर वदनारविन्द गोविन्द ।
भवजलधि मथन मन्दर परमं दरमपनय त्वं मे ॥६॥
नारायण करुणामय शरणं करवाणि तावकौ चरणौ ।
इतिषट्पदी मदीये वदन सरोजे सदा वसतु ॥७॥

इति श्री वोपदेवाचार्य कृतं पट्पदी स्तोत्रं सम्पूर्णम् ॥



रोचक

ब्रज-सम्बन्धी समस्त साहित्य सुगमना से उपलब्ध

सूची-पत्र-प्राप्ति के लिये लिखिये :

भक्तभारत-ग्रन्थमाला

चार सम्प्रदाय आश्रम, वृन्दावन [३० प्र०]

भक्त भारत

[सार्विक]

यह आपका पारिवारिक प्रिय पत्र है ।

- ऋ आपके विचारों को सुसंस्कृत बनाता है ।
- ऋ शास्त्रीय सिद्धान्त, विचार, मर्यादा एवं परम्परा को गतिशील युग के साथ चलने को प्रेरित करता है ।
- ऋ भक्त और भगवान की हृदयस्पर्शी लीला-चित्रण करता है ।
- ऋ ब्रज-संस्कृत और ब्रज-माधुरी का यह पत्र प्रकाशक है ।

नमूना की प्रति प्राप्ति के लिये लिखिये—

'भक्त-भारत' कार्यालय
वृन्दावन (उत्तर प्रदेश)